

प्रवचनसार गाथा ११३

अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं :

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कथं लहदि ॥११३॥
(हरिगीत)

मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं ।

ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह ॥११३॥

अन्वयार्थ : [मनुजः] मनुष्य [देवः न भवति] देव नहीं है,
[वा] अथवा [देवः] देव [मानुषः वा सिद्धः वा] मनुष्य या सिद्ध नहीं
है; [एवं अभवन्] ऐसा न होता हुआ [अनन्यभावं कथं लभते]
अनन्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है?

टीका : पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही सत्
(विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं ।
और पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता
से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकाल में उत्पाद होता है; उसमें
पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति का पहले असत्पना होने से, पर्यायें अन्य
ही हैं । इसलिये पर्यायों की अन्यता के द्वारा द्रव्य का जो कि पर्यायों के
स्वरूप का कर्ता, करण और अधिकरण होने से पर्यायों से अपृथक् है,
उसका असत्-उत्पाद निश्चित होता है ।

इस बात को (उदाहरण देकर) स्पष्ट करते हैं :-

मनुष्य, वह देव या सिद्ध नहीं है और देव, वह मनुष्य या सिद्ध नहीं है;
इसप्रकार न होता हुआ अनन्य (वह का वही) कैसे हो सकता है, कि
जिससे अन्य ही न हो । और जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं
ऐसा जीव द्रव्य भी वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न
होती हैं ऐसे सुवर्ण की भाँति पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न
हो? जैसे कंकण, कुण्डल इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, (भिन्न-भिन्न हैं, वे की

वे ही नहीं हैं) इसलिये उन पर्यायों का कर्ता सुवर्ण भी अन्य है; इसीप्रकार
मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिये उन पर्यायों का कर्ता जीवद्रव्य
भी पर्यायापेक्षा से अन्य है ।

भावार्थ : जीव के अनादि-अनन्त होने पर भी, मनुष्य पर्यायकाल
में देवपर्याय की या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्याय की अप्राप्ति है अर्थात्
मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है; इसलिये वे पर्यायें अन्य-अन्य हैं । ऐसा होने
से, उन पर्यायों का कर्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षा से
अन्यपने को प्राप्त होता है । इसप्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य के
पर्यायापेक्षा से अन्यपना है । इसप्रकार द्रव्य को अन्यपना होने से द्रव्य के
असत्-उत्पाद है ऐसा निश्चित होता है ।

गाथा ११३ पर प्रवचन

अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व द्वारा निश्चित करते हैं :

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं;
इनमें पुद्गल रूपी है और शेष अन्य अरूपी हैं । यहाँ मनुष्य गति का
दृष्टांत देकर समझाया है ।

जीव अपनी योग्यता के कारण जब मनुष्य पर्यायरूप होता है, तब
वह देव पर्यायरूप नहीं होता । जो बाहर स्थूल दिखाई देता है; वह तो
शरीर है; मनुष्य नहीं । जैसे शरीर मनुष्यपना नहीं है; वैसे ही नामकर्म जड़
है, उसके कारण भी मनुष्यपना नहीं है, अपितु उस समय जीव की योग्यता
ही मनुष्यपने की है ।

जब अपने शुभभाव की योग्यता से देवगति की पर्याय होती है, तब
मनुष्यगति नहीं होती; वैसे ही देव की पर्याय की योग्यता के समय सिद्ध
की पर्याय की योग्यता नहीं है । एक जीव की एक समय में एक ही
अवस्था होती है, अन्य नहीं ।

जीव, शरीर, पैसा इत्यादि इस जगत के सत्ता स्वभाववाले पदार्थ
हैं । जो पदार्थ हैं, उन्हें कोई नहीं बना सकता और जो है, उसका किसी भी
समय नाश नहीं होता । जो पदार्थ नहीं होते, वे नये (उत्पन्न) नहीं होते

तथा किसी पदार्थ के कारण किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती ।

प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है । यदि द्रव्य अकेला परिणामी हो तो नित्य के बिना परिणाम किसका? और यदि द्रव्य अकेला (मात्र) नित्य हो तो विकार अथवा अविकार सिद्ध नहीं होता और विकार पलटकर सिद्धदशा प्रगट करना भी नहीं रहता ।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है; इसमें समय-समय अन्य-अन्य अवस्थाएँ होती हैं; उस समय जीव भी पर्याय दृष्टि से उसरूप अन्य-अन्य होता है, किन्तु ध्रुव पृथक् नहीं रहता ।

ध्रुव वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखो तो आत्मा वैसे का वैसे ही है अर्थात् जड़ चेतन नहीं होता और चेतन जड़ नहीं होता; किन्तु अपने में अपनी अवस्था के समय पर्यायदृष्टि से सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायरूप होता है । जब पर्याय अन्य-अन्य होती है, तब द्रव्य भी सम्पूर्ण अन्य-अन्य होता है । यदि पर्याय के समान ध्रुव अन्य-अन्य न हो तो पर्याय और द्रव्य पृथक्-पृथक् हो जावेंगे; किन्तु ऐसा नहीं होता ।

लोभ की पर्याय के समय लोभ की पर्याय है और संतोष की पर्याय के समय संतोष की पर्याय है । एक समय की लोभ की पर्याय को बदलकर संतोष पर्याय करने की अपने में ताकत है । वस्तु ध्रुव है, यह सम्पूर्ण आत्मा पर्यायदृष्टि से लोभ के समय लोभरूप परिणमित होता है और संतोष के समय संतोष रूप परिणमित होता है इसप्रकार पर्यायदृष्टि से वह अन्य-अन्य होता है ।

सोने में कड़े की पर्याय के समय कड़े की अवस्था है और कुण्डल के समय कुण्डल की अवस्था है । अवस्था की दृष्टि से देखें तो सोना कड़े के समय कड़ारूप हुआ है और कुण्डल के समय कुण्डलरूप हुआ है; इसप्रकार वह अन्य-अन्य होता है ।

वस्तु स्वतंत्र है और समय-समय स्वतंत्र अवस्था करने के लिए समर्थ है । प्रत्येक वस्तु ध्रुव रहकर बदलती है, भावान्तररूप होती है; किन्तु अपना सर्वथा अभाव करके वह रूपान्तर नहीं होती । इसीप्रकार

जो वस्तु बदलती है, वह परपदार्थ अथवा निमित्त के कारण नहीं बदलती ।

रुपया जो कि जड़ पुद्गल द्रव्य है, उसकी अवस्था भी एक के बाद एक हुआ करती है । एक दुकान में जाने की उसकी जो अवस्था होती है, उसमें उस पुद्गल द्रव्य की अन्य-अन्य अवस्था उस द्रव्य की योग्यता के कारण हुई है । पुद्गल द्रव्य भी अवस्था दृष्टि से अन्य-अन्य होता है; किन्तु जीव ने पैसा कमाने का भाव किया, इसलिये पैसे का क्षेत्रांतर नहीं हुआ है और जीव ने संतोष धारण किया, इसीलिये पैसा आना रुक गया ऐसा नहीं है ।

सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु ऐसी की ऐसी रहती है और पर्याय अपेक्षा से अपने पर्याय स्वभाव के कारण अन्य-अन्य होती है ।

यदि शुद्ध स्वभाव प्रगटरूप हो तो वर्तमान में परमानन्द प्रगट होना चाहिए, परन्तु वर्तमान में संसार है, इसीलिये आकुलता है; और यदि स्वभाव शक्तिरूप सुख का सागर न हो तो आकुलता मिटकर निराकुलता प्रगट नहीं होगी ।

शुद्ध स्वभाव शक्ति कायम (ध्रुव) रहकर अवस्था में परिणमन हुआ करता है और पर्याय होते समय ध्रुव पृथक् नहीं रहता । तथा ध्रुव अकेला रहे और पर्याय दूसरी हो जाये ऐसा भी नहीं होता ।

जैसे भैंस के थन में दूध भरा हुआ है, उसमें से दूध निकाला जाता है; इसीतरह कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के सूत्र के शब्दों में से भाव निकालकर अमृतचन्द्राचार्य महाराज टीका लिखते हैं विशेष स्पष्टीकरण करते हैं ।

पर्याय का शब्दार्थ : परि अर्थात् समस्त प्रकार से, आय अर्थात् परिणमन करना । अपने कारण से जो समस्त प्रकार से परिणमन करती है, उसे पर्याय कहते हैं; पर के कारण पर्याय नहीं होती ।

जीव के भाव के कारण शरीर परिणमन नहीं करता और शरीर के कारण आत्मा परिणमन नहीं करता । आत्मा ध्रुव है, वह भी स्वयं के कारण है और उसका वर्तमान परिणमन अर्थात् पर्याय भी स्वयं के कारण है, किन्तु पर के कारण नहीं । द्रव्य-गुण-पर्याय स्वावलम्बी तत्त्व हैं । जो

तत्त्व होता है, वह पर से नहीं हो सकता।

आत्मा शरीर-मन-वाणी की क्रिया कर सकता है ऐसी मान्यता अधर्म की पर्याय है। अधर्म के समय अधर्म की पर्याय है और दूसरे समय दूसरी अधर्म की अथवा धर्म की पर्याय है और वे पर्यायें अन्य समय में नहीं होतीं। आत्मा नित्य रहता है। निर्दोष पर्याय के समय सदोष पर्याय नहीं है और सदोष पर्याय के समय निर्दोष पर्याय नहीं है अर्थात् दोनों का समय पृथक्-पृथक् है।

इसतरह परमाणु में इस अंगुली का दृष्टान्त लिया है अंगुली की सीधेपने की अवस्था में से टेढ़ी अवस्था हुई और परमाणु ध्रुव रहे हैं। सीधेपने में से वक्रता की अवस्था आत्मा की इच्छा के कारण नहीं हुई है; अपितु उस समय की उसकी योग्यता के कारण वह वक्र (टेढ़ी) हुई है, क्योंकि वह पदार्थ अस्ति-स्वरूप है तथा सीधेपने के समय सीधेपने का सद्भाव है और वक्रता का अभाव है; इसीप्रकार वक्रता के समय वक्रता का सद्भाव है और सीधेपने का अभाव है। तथा अंगुली सीधी अवस्था के समय सीधेरूप हुई है और वक्र अवस्था के समय वक्ररूप हुई है; इसप्रकार पर्यायदृष्टि अन्य-अन्य अवस्था से द्रव्य धारण करता है।

प्रत्येक पर्याय का कर्ता द्रव्य स्वयं है। पर्याय का साधन द्रव्य स्वयं है और पर्याय का आधार भी स्वयं है। एक पर्याय एक समय सत् है और दूसरे समय वह असत् है। आत्मा की अपनी वर्तमान पर्याय सत् और पूर्व पर्याय वर्तमान में असत् है।

इसलिये वर्तमान राग-द्वेष या चाहे जो अवस्था हो, उनका कारण पर्याय है, पूर्व पर्याय उसका कारण नहीं तो फिर पर-पदार्थ अथवा निमित्त को वर्तमान पर्याय का कारण कहना तो स्थूल अज्ञान है। यहाँ छहों द्रव्यों की पर्यायों को समय-समय सत् बताया है।

इस भेदज्ञान के बिना सही समझ नहीं होती और समझ के बिना धर्म और शान्ति प्रगट नहीं होती। संसार के लोभी जीव पैसे की प्राप्ति कैसे होती है, उसका ध्यान रखते हैं अथवा कोई गोली दे अथवा अपमान

करे तो गाँठ में बाँध लेते हैं (मन में याद रखते हैं)। एक-एक पर्याय स्वतंत्र है ऐसा पृथक्-पृथक् भेदज्ञान करके गाँठ में बाँधे अर्थात् अपने ज्ञान में सम्यक् रूप से धारण कर ले तो संसार का अंत करके सुखी हो जाये।

प्रत्येक पर्याय उसके स्वकाल में प्रगट होने के समय सत् होने से अन्य समय में असत् है; एक समय का क्रोध अथवा मान अन्य समय में असत् है; एक चेतन द्रव्य स्वरूप से है और अन्य चेतन द्रव्य अथवा पुद्गल द्रव्यरूप से नहीं है ऐसा अनेकांत प्रत्येक वस्तु में है। इसी तरह एक समय की पर्याय स्वरूप से है और पूर्व की अथवा भविष्य की पर्यायरूप से नहीं इसप्रकार एक पर्याय में अनेकांत है।

इसीप्रकार अनंत पर्यायों में अनंत धर्म रहते हैं। यदि एक समय की पर्याय अन्य समय की पर्यायरूप हो तो अस्ति-नास्तिरूप अनेकांत धर्म नहीं रहता। पर्याय का नाश होने पर वस्तु के नाश का प्रसंग आ जायेगा। एक-एक पर्याय एक समय में सत् है और दूसरे समय में असत् है; दूसरे समय में दूसरी नई पर्याय सत् है, तीसरे समय तीसरी पर्याय सत् है।

जिस समय आत्मा में लोक का परिणाम हुआ, उस समय वह सत् है, दूसरे समय वह असत् है। एक-एक पर्याय का कर्ता, करण और आधार वह वस्तु है, अन्य कोई नहीं। तीन लोक के पदार्थ स्वरूप से हैं और पररूप से नहीं। इसीतरह एक-एक पर्याय स्वरूप से है और पररूप से नहीं।

सर्वज्ञ भगवान में ज्ञान शक्ति में से केवलज्ञान व्यक्तरूप से प्रगट हुआ; उन्हें पूर्व की अल्पज्ञ अवस्था का नाश हुआ और सर्वज्ञ अवस्था का उत्पाद हुआ। सर्वज्ञ अवस्था के समय सर्वज्ञता का सद्भाव है और अल्पज्ञता का असद्भाव है तथा एक समय की केवलज्ञान अवस्था दूसरे समय की अवस्था की अपेक्षा से असत् है और द्रव्य कायम रहता है।

प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है और उसका पर्याय काल जिस समय होना है, उसी समय होता है आगे-पीछे नहीं होता।

प्रश्न : इस बात को समझने में धर्म कैसे हुआ?

उत्तर : ऐसी स्वतंत्रता समझने में ही सच्चा धर्म है। जो तेरी वर्तमान पर्याय होती है, वह तेरी स्वयं की पूर्व पर्याय के कारण नहीं होती। तेरे में भी ऐसी स्वतंत्रता है। तेरी पर्याय को आगे-पीछे करने में कोई समर्थ नहीं है। पर्यायें क्रमबद्ध हो रही हैं तो फिर परपदार्थ के कारण अपने में फेरफार होता है, ऐसा मानना तो स्थूल अज्ञान है। ऐसी सच्ची दृष्टि होने पर अनंत परपदार्थों में से सुख लेने की पराधीन संयोगी दृष्टि का नाश होता है। अपने में भी एक के बाद एक होनेवाली पर्याय में एक पर्याय में दूसरी का अभाव है। पर्याय क्षणिक है अंश है पलटती वस्तु है; इसप्रकार निर्णय करने से पर्याय का मोह दूर हो जाता है और पर्यायदृष्टि का नाश होने पर जो ध्रुव चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा सुख का सागर, शक्ति से भरा हुआ स्वभाव विद्यमान है; उस ओर दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की पर्याय प्रगट होती है और धर्मी जीव को भगवान् आत्मा का साक्षात्कार होता है। इसीप्रकार संयोगीदृष्टि तथा पर्यायदृष्टि का नाश करना और वस्तुदृष्टि स्वभावदृष्टि करना धर्म और शांति का कारण है।

शरीर, लक्ष्मी, कुटुंब, जाति, वेश आदि की एक समय की पर्यायों का जो काल होता है, वह वही काल हो सकता है; अन्य काल नहीं हो सकता। उस वस्तु का अपने में भी पर्याय का समय फिरता नहीं तो फिर अज्ञानी जीव जो यह मानता है कि मैं शरीर, जाति, देश, कुटुंब आदि का परिणामन कर दूँ और उनमें फेरफार कर दूँ अथवा उन्हें सुखी कर दूँ और उसमें से सुख ले लूँ यह तो बहुत बड़ा भ्रम है।

ऐसा सत् स्वभाव समझे तो पर का और पर्याय का अहंकार छूट जाता है और निराकुलता प्रगट होती है।

एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के ऊपर प्रभाव नहीं होता। एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव वर्तता है, फिर उसे कहना कि वह दूसरी वस्तु के ऊपर प्रभाव करती है यह तो अज्ञान है; क्योंकि ऐसा कभी नहीं हो सकता।

(१) वर्तमान पर्याय का जो पूर्व पर्याय में अभाव वर्तता है, उसे प्रागभाव कहते हैं। केवलज्ञान की वर्तमान पर्याय का पूर्व की श्रुतज्ञान पर्याय में अभाव वर्तता है।

(२) वर्तमान पर्याय का भविष्य की पर्याय में अभाव वर्तता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। केवलज्ञान की वर्तमान पर्याय का आगे होनेवाली केवलज्ञान की पर्याय में अभाव है।

(३) एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में जो अभाव है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। शरीर के एक पुद्गल परमाणु की वर्तमान अवस्था का दूसरे पुद्गल परमाणु की अवस्था में अभाव वर्तता है।

(४) एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव है। आत्मा और शरीर का अत्यंत अभाव है। इसीतरह एक आत्मा और दूसरी आत्मा का अत्यंत अभाव है।

पहले तीन अभाव पर्यायों के बीच हैं और अंतिम अभाव दो द्रव्यों के बीच है।

जो वस्तु और पर्याय अभावरूप होती है, उसे भावरूप मानकर यह मानना कि वह प्रभाव डालती है यह अधर्म है। जिसका तेरे में अभाव है, वह तेरे में प्रभाव करे अर्थात् विशेष भाव कर दे। ऐसा मानना अज्ञान भाव है।

यह बात न्याय से कही गई है। न्याय शब्द नी धातु में से निकलता है। 'नी' का अर्थ ले जाना होता है। एक-एक समय की पर्याय परपदार्थों अथवा पूर्व पर्यायों से भी नहीं होती। ऐसे सच्चे ज्ञानपूर्वक ज्ञान की पर्याय को अभेद स्वभाव की तरफ ले जायें, उसे न्याय कहते हैं।

एक-एक समय की पर्याय पर से होती है अथवा पूर्व पर्याय से होती है। ऐसा मानना, वह अज्ञान और अन्याय कहलाता है।

ज्ञान और वाणी दोनों स्वतंत्र हैं, किसी के कारण किसी की पर्याय नहीं होती।

एक-एक समय की पर्याय सत् है। व्यवहार से व्यवहार है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है। कितने ही जीव पर्याय का तुच्छ (सर्वथा) अभाव मानते हैं, यह बात यथार्थ नहीं है; क्योंकि पर्याय के समय पर्याय सत् है, परिणमनशील है, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से पर्याय को गौण किया जाता है; किन्तु पर्याय के समय पर्याय सत् है और जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही पर्याय होती है। नासमझी के समय में समझ का काल नहीं होता और समझ के समय में नासमझी का काल नहीं होता।

कितने ही जीव ब्रह्मसत्य और जगत मिथ्या ऐसा मानते हैं। यह बात यथार्थ नहीं है। वस्तु त्रिकाल है और अवस्था में एक समय मात्र का परिणमन है। अनन्त पदार्थ सत् हैं, मिथ्या नहीं और प्रत्येक पर्याय भी सत् है। त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से पर्याय असत् कहलाती है, किन्तु अपनी अपेक्षा तो वर्तमान पर्याय सत् है मिथ्या नहीं।

तीनों काल के पदार्थ अपने-अपने समय में हैं। जीव की प्रत्येक समय की पर्याय का कर्ता, करण और आधार उस समय का जीव है और दूसरे समय की पर्याय का कर्ता, करण और आधार दूसरे समय का जीव है; किन्तु पुद्गल उसका कर्ता, करण और आधार नहीं है।

एक समय में एक पर्याय सत् है और दूसरे समय में दूसरी पर्याय सत् है इसप्रकार स्वतंत्रता सिद्ध की है। पर के कारण तेरी पर्याय नहीं होती और तेरे कारण अन्य में पर्याय नहीं होती। तेरे में भी जो एक पर्याय होती है, वह अन्य पर्याय नहीं है और पर्याय के स्वकाल में फेरफार नहीं होता।

यह ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन-अधिकार है; इसमें स्वज्ञेय को स्वद्रव्य-गुण को, स्वपर्याय को, परद्रव्य-गुणपर्याय को ज्ञान किस तरह जानता है यह बात स्पष्ट की है।

जो पर्याय होती है, वह द्रव्यत्वभूत अन्वय शक्ति के साथ सम्बन्ध रखती है। अन्वय शक्ति अर्थात् गुण जैसे कि आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शक्तियाँ और परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की शक्तियाँ अपने-अपने सत्तागुण के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

द्रव्य में गुण अर्थात् ध्रुव सदृश्य शक्तियाँ पड़ी (विद्यमान) हैं, उनके साथ समय-समय की पर्याय गुंथी हुई है। अन्वय शक्तियाँ पर्याय से पृथक् रहें ऐसा नहीं है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ऐसे ध्रुव गुणों के साथ पर्याय गुंथी हुई है, किन्तु ध्रुव भिन्न नहीं रहता; तथा पर्यायों का उनके क्रमानुसार स्वकाल में उत्पाद होता है। यहाँ क्रमानुसार शब्द में वजन है। एक-एक पर्याय क्रमशः उत्पन्न होती है। एक समय में दूसरी पर्याय लेने जायेंगे तो वह नहीं मिलेगी। एक समय में जो पर्याय है वही पर्याय है, इसमें उलटा-सीधा नहीं होता। तेरे द्रव्य में तेरी वर्तमान पर्याय, तेरी पूर्वपर्याय के कारण नहीं है तो फिर तेरे पुत्र के शरीर की पर्याय को अथवा धनादि की पर्याय को तू रख सके और उसमें फेर-फार कर सके यह मान्यता तो महा-अज्ञान है।

यहाँ तो कर्म के कारण विकार हुआ अथवा संयोग के कारण फेर-फार हुआ यह बात तो याद ही नहीं की, अपितु अपनी पर्याय की ही बात की है। तेरी पूर्व पर्याय के कारण वर्तमान पर्याय नहीं है। कर्म के कारण राग हुआ यह बात तो है ही नहीं, किन्तु पूर्व में बहुत राग था; इसीलिए वर्तमान में राग हुआ हो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पूर्व पर्याय वर्तमान पर्याय का कारण नहीं है। इसी तरह स्वकाल में पर्याय होती है ऐसा निर्णय करने पर वह पर्याय तो अन्वय गुणों के साथ गुंथी हुई है; इस प्रकार द्रव्य और गुणों की ओर दृष्टि जाती है। द्रव्यगुण तो शुद्ध है ऐसे शुद्ध द्रव्य की रुचि होती है और द्रव्य की रुचि द्रव्य-दृष्टि ही धर्म है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु वस्तु है। एक समय की अवस्था दूसरे समय नहीं है, इसीतरह वह आगे-पीछे भी नहीं होती। सादृश्य अर्थात् ध्रुव अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य वह का वही है, किन्तु पर्याय अपेक्षा से वह अन्य-अन्य होता है।

श्रुतज्ञान के समय सम्पूर्ण आत्मा श्रुतज्ञानरूप हुआ है; इस समय वह केवलज्ञानरूप नहीं होता। वर्तमान समय में भूत तथा भविष्य की पर्याय का अभाव है। पुद्गल द्रव्य में भी जिस समय आम हरा होता है, उस

समय उसकी पूर्व तथा भविष्य की अवस्था का अभाव है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा पूर्ण है, इसका आलम्बन लेकर जो स्वभाव-पर्याय व्यक्त हुई, वह पर्याय इसी समय हुई है, दूसरे समय नहीं हुई; इसीतरह जिस समय सिद्ध पर्याय स्वरूप आनन्द की पर्याय प्रगट हुई है, उसी समय वह सत् है; आगे-पीछे नहीं। वर्तमान पर्याय वर्तमान समय के अतिरिक्त किसी भी काल में नहीं हुई है।

त्रिकाल के जितने भी समय है, उतनी प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञान एक समय की पर्याय हैं, वे गुण नहीं हैं। ज्ञान ध्रुवशक्ति है, इसमें से पर्याय आती है। गुण और पर्याय दो होकर सम्पूर्ण द्रव्य हैं।

आत्मा एवं परमाणु में असत् उत्पाद है। उस समय भूत एवं भविष्य का उत्पाद नहीं होने पर भी अपने द्रव्य की अन्वय शक्ति के साथ सम्बन्ध रखकर असत् उत्पाद हुआ है। ज्ञानगुण की अखण्डता तोड़कर श्रुतज्ञान में से केवलज्ञान का असत् उत्पाद नहीं हुआ है तथा परमाणु में भी उसके ध्रुव गुण रस-गंध-वर्णादि के साथ सम्बन्ध रखकर असत् उत्पाद हुआ है।

अपनी एक समय की पर्याय, अपने में ही दूसरे समय खोजने जाये तो नहीं मिलेगी, तब अपनी पर्याय संयोग में खोजने जाये तो वहाँ उसका पता ही नहीं लगेगा। जो पर्याय जिस समय होने वाली होती है, वह उसी समय होती है; निमित्त से नहीं होती और आगे-पीछे भी नहीं होती।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो फिर सम्यक्त्व अथवा केवलज्ञान भी जिस समय अपने स्वकाल में होनेवाले होंगे, उस समय हो जायेंगे? हमें तो अभी कुछ करना शेष नहीं रहा न?

उत्तर : यहाँ स्वकाल की बात कहाँ से लाये? स्वकाल तो पर्याय है। जिस समय मिथ्यात्व का स्वकाल है, उस समय सम्यक्त्व का स्वकाल नहीं है। एक स्वकाल में दो पर्याय नहीं हो सकती तथा एक स्वकाल में दो प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। स्वकाल की मिथ्यात्व की पर्याय के

समय ही सम्यक्त्व की पर्याय नहीं हो सकती।

प्रश्न : स्वकाल किसके आधार से प्रगट होगा?

उत्तर : जिसे सम्यक्त्व का स्वकाल प्रगट करना हो, उसे ध्रुव स्वभाव की ओर लक्ष्य किये बिना - रुचि किये बिना सम्यक्त्व का स्वकाल नहीं आयेगा।

ध्रुव सामान्य शक्ति का पिण्ड द्रव्य, पर्यायदृष्टि से अन्य-अन्य रूप होता है; परन्तु पर्यायदृष्टि से उसकी वह पर्याय अन्य-अन्य नहीं होती। पर्याय तो एक समय में एक ही हुई है, अन्य समय में इसका अभाव है। एक समय का स्वकाल दूसरे समय में नहीं आता। पर्याय के स्वकाल का दूसरा स्वकाल हो ही नहीं सकता। मिथ्यादर्शन का स्वकाल बदलकर सम्यग्दर्शन का स्वकाल कहाँ से आयेगा? क्या निमित्त से होगा? नहीं! निमित्त तो पर पदार्थ है। जिससमय मिथ्यादर्शन का स्वकाल है तो क्या उसमें से सम्यक्त्व का स्वकाल होगा? नहीं। पर्याय में से पर्याय नहीं आती, क्योंकि उसका तो दूसरे समय अभाव होता है। ध्रुव द्रव्य जो विद्यमान है उस पर दृष्टि करने से सम्यक्त्व का स्वकाल उत्पन्न होगा और मिथ्यात्व का व्यय होगा। इसलिए स्वकाल में मोक्ष होनेवाला होगा तो होगा ऐसा कहनेवाला जीव ध्रुव दृष्टि के बिना मात्र स्वच्छन्दता का सेवन करता है। ध्रुवदृष्टि करने से धर्म उत्पन्न होता है। इसतरह पर्याय दृष्टि से द्रव्य अन्य-अन्य होता है।

पर्यायें एक के बाद एक क्रमशः स्वकाल में होती हैं; इसमें वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव था अर्थात् प्रागभाव था। जो पर्यायों से पृथक् नहीं है वह द्रव्य, पर्याय का कर्ता, करण और आधार होने के कारण द्रव्य का असत् उत्पाद निश्चित होता है। जैसे आत्मा वर्तमान पर्याय में अनाकुल स्वभाव वाला हुआ; यह पूर्व में आकुलतावाला था, वह मिटकर अनाकुल स्वभाववाला हुआ; इसीलिए आत्मा पर्याय दृष्टि से अन्य-अन्य हुआ है, पर्याय अन्य-अन्य नहीं हुई है।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि शक्तियाँ ऐसी की ऐसी कायम

रहती हैं, इस दृष्टि से आत्मा सादृश्य कहलाता है और पहले समय में जो आत्मा था, वह बाद के समय में नहीं रहेगा। इसप्रकार पर्यायदृष्टि से वह विसदृश्य कहलाता है।

दूसरे समय में जो नई पर्याय होती है, वह वर्तमान के सिवाय अन्य सभी काल में नहीं थी और पूर्व के एक समय में भी नहीं थी; इसीलिए एक समय की पर्याय दूसरे समय की पर्याय का कर्ता, करण और आधार नहीं है; किन्तु एक-एक समय की पर्याय का कर्ता, कर्म, करण और आधार, ध्रुवशक्ति सामान्य का पिण्ड द्रव्य है और ध्रुव शक्ति पर्याय से पृथक् नहीं है; इसीलिए द्रव्य का असत्-उत्पाद निश्चित होता है।

अब उदाहरण देकर समझाते हैं :

आत्मा की मनुष्यपने की योग्यता वह मनुष्यत्व है। इसी तरह आत्मा की देवपने की योग्यता वह देवत्व है। सादृश्य चैतन्य स्वभावपना होने पर भी मनुष्य वह देव नहीं अथवा सिद्ध नहीं है और देव वह मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है। इसप्रकार होने से जो पर्याय चली गई, वह की वह पर्याय दूसरे समय कैसे होगी? कभी नहीं हो सकती, किन्तु जीवद्रव्य पर्याय स्वयं पर्याय में अन्य-अन्य होता है।

जिस तरह सोने की अवस्था पृथक्-पृथक् है; जो कुण्डल है, वह कंगन नहीं है और जो कंगन है, वह कुण्डल नहीं है; किन्तु स्वर्ण उसका सादृश्य भाव, स्वर्णत्व पीलापन, चिकनापन आदि रखकर पर्यायदृष्टि से कंगन, कुण्डल आदिरूप स्वर्ण सादृश्य स्वयं परिणमित हुआ है। इसी तरह मनुष्य, देव आदि अवस्था अन्य-अन्य है; इसीलिए इस अवस्था को करने वाला जीवद्रव्य भी पर्याय अपेक्षा से अन्य-अन्य होता है।

प्रत्येक द्रव्य सब वर्तमान है, पहले नहीं था और दूसरों के कारण नहीं था। इसप्रकार स्वतंत्र पर्याय देखने वाले को ध्रुवदृष्टि करना रहा और ध्रुवदृष्टि ही वीतरागता का कारण है।

स्वयं की धर्म पर्याय पर के कारण नहीं है; इसीतरह पूर्व में से भी वर्तमान पर्याय नहीं आती। ऐसा निर्णय करने पर परतरफ की निमित्ताधीन

दृष्टि और अंश ऊपर की पर्यायदृष्टि का नाश होता है। और ध्रुव तरफ लक्ष्य करने पर धर्म पर्याय उत्पन्न होती है। इसीतरह दूसरे द्रव्य की पर्यायों को मैं नहीं बदल सकता, उसकी एक समय की पर्याय अन्यरूप नहीं होगी, उसका द्रव्य स्वयं अन्यरूप होता है।

जब स्वयं की पर्याय भी अन्यरूप नहीं होती तो फिर दूसरे की पर्याय को बदलकर अन्यरूप कर सके। ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। ऐसा सम्यक् ज्ञान करने से पर का अहंकार दूर हो जाता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि शरीर में रोटी नहीं आई; इसीलिए धर्म हुआ, किन्तु ऐसा मानना तो भूल है।

रोटी नहीं आई, उससे शरीर कमजोर हुआ। ऐसा नहीं है।

शरीर कमजोर हुआ, इसीलिए शुभभाव हुआ। ऐसा नहीं है।

शुभभाव हुआ, इसीलिए शरीर दुबला हुआ। ऐसा नहीं है।

शुभभाव हुआ, इसीलिए धर्म हुआ। ऐसा भी नहीं है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु का स्वकाल का वर्तमान उत्पाद वर्तमान के सिवाय अन्य किसी भी काल में नहीं होता और पूर्व में भी वह नहीं था और एक दूसरे के कारण भी वह नहीं है।

ध्रुव सादृश्य भाव स्वयं की सभी शक्तियों के साथ गुँथा हुआ सम्बन्ध रखकर अवस्था दृष्टि से अन्य-अन्य होता है अर्थात् असत्-उत्पादरूप परिणमित होता है।

भावार्थ : जीव द्रव्यदृष्टि से अनादि-अनंत होने पर भी उसमें मनुष्य पर्याय के समय देवपने का, सिद्ध अवस्था का अभाव है, इसीलिए देव पर्याय तथा सिद्ध पर्याय पृथक्-पृथक् हैं। इस तरह पर्याय पृथक्-पृथक् होने से पर्यायों का करनेवाला, साधन और आधार जीव द्रव्य-पर्याय अपेक्षा से अन्य-अन्य होता है। यदि वह अन्य-अन्य नहीं होता तो फिर यह पर्याय किसकी होगी? इसीलिए पर्यायदृष्टि से ध्रुव स्वभाव स्वयं अध्रुव होता है। इसतरह ज्ञान का ज्ञेय जो ध्रुव स्वभाव है, वह पर्याय अपेक्षा से अन्य-अन्य होता है। ऐसा ज्ञान कराया है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतंत्र पदार्थ हैं। उनकी एक-एक समय की स्वयं पर्याय होती है। एक समय की पर्याय दूसरे समय नहीं होती तथा एक ही पर्याय अन्यरूप नहीं होती, किन्तु ध्रुव स्वभाव स्वयं पलटकर अन्यरूप होता है। ध्रुव स्वभाव स्वयं सम्यक्त्वरूप है।

मिथ्यात्व की पर्याय का व्यय होकर सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट हुई है; किन्तु मिथ्यात्व की पर्याय सम्यक्त्व की पर्याय का कर्ता, करण और आधार नहीं है। इसीतरह देव-गुरु-शास्त्र भी सम्यक्त्व की पर्याय के कर्ता, करण और आधार नहीं हैं। ध्रुव स्वभाव भाव, गुण, शक्ति, सदृश्य भाव स्वयं ही सम्यग्दर्शन का कर्ता है, वही करण है और वही आधार है।^१

यहाँ उत्पाद को सिद्ध करना है।

सोने की कुण्डल अवस्था का नाश होकर कड़ा होता है तो इसमें कड़े की अवस्था का कर्ता कौन है? क्या सोनी (सुनार) कड़े का कर्ता है? अथवा हथौड़ी, चिमटी आदि साधन कड़े के कर्ता हैं?

सोनी, हथौड़ी, चिमटी आदि निमित्त तो कड़े के कर्ता करण और साधन तो नहीं ही हैं; क्योंकि उनका सोने में अभाव है, किन्तु कुण्डलरूप जो पूर्व अवस्था थी, वह कड़ेरूप नई अवस्था की कर्ता है या नहीं? नहीं, क्योंकि पूर्व की कुण्डल अवस्था का तो नाश हुआ है। वह वर्तमान में तो है नहीं और जो वस्तु है नहीं, वह कर्ता कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती; क्योंकि पूर्व पर्याय तो वर्तमान में नहीं आती। इसीलिये पूर्व पर्याय कर्ता, करण और आधार नहीं है; मात्र स्वर्ण द्रव्य ही कड़ेरूप अवस्था का कर्ता, करण और आधार है। सोने का ध्रुव स्वभाव, गुणस्वभाव पीलापन, चिकनापन, वजन आदि शक्तियाँ स्वयं पर्याय दृष्टि से कड़े की अवस्थारूप से परिणमित हुई हैं, किन्तु सोनी, हथौड़ी अथवा अन्य कोई साधन से अथवा पूर्व पर्याय से यह अवस्था नहीं हुई है।

रुपया जो कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आया; इस पर्याय के उत्पाद का कर्ता जीव का विकल्प नहीं है तथा पूर्व पर्याय भी इसका कर्ता नहीं

है। रुपया स्वभाव में रहनेवाले पर्याय धर्म को नहीं छोड़ता, उसके पर्याय धर्म के कारण क्षेत्रांतर हुआ है।

निमित्त वस्तु अन्यरूप नहीं हुई है; इसीतरह पूर्व की पर्याय के कारण भी वर्तमान पर्याय अन्यरूप नहीं हुई है, किन्तु ध्रुव स्वभाव, गुण, शक्तियाँ स्वयं अपने पर्याय धर्म के कारण पर्यायदृष्टि से पर्यायरूप हुए हैं।

सत्-उत्पाद कहो तो उसी ध्रुव में से उत्पाद हुआ है और असत्-उत्पाद कहो तो भी पहले नहीं था और हुआ तो यही ध्रुव अन्यरूप हुआ है। यह का यही ध्रुव अन्यरूप हुआ है, अन्य कोई नहीं।

गाथा ११२ में सत्-उत्पाद की बात थी; उस उत्पाद का कर्ता, करण और आधार ध्रुव शक्तियाँ है। ऐसा स्पष्टीकरण करने की जरूरत नहीं थी; क्योंकि जो शक्तियाँ है ...है...है... उसमें से सत्-उत्पाद आया है। है में से है हुआ है, इसीलिये कर्ता-करण का स्पष्टीकरण करने की जरूरत नहीं थी, किन्तु गाथा ११३ में असत्-उत्पाद की बात आई; इसीलिये टीका में स्पष्टीकरण करना पड़ा है।

अज्ञानी जीव को ऐसा लगता है कि वर्तमान पर्याय पूर्व में नहीं थी और अब आई है तो जरूर ही यह निमित्त के कारण हुई है इसप्रकार उसकी दृष्टि तुरन्त ही संयोग पर जाती है अथवा पूर्व पर्याय का संस्कार था तो यह हुई है ऐसा लगता है। इसप्रकार अज्ञानी की नजर पूर्व पर्याय पर तथा संयोग पर जाती है, किन्तु अन्वय शक्तियाँ स्वयं कर्ता, करण, साधन होकर उसरूप परिणमित हुई हैं ऐसी स्वभाव की बात उसे स्वीकृत नहीं होती।

पूर्व में राग मंद था और दूसरे समय राग तीव्र हुआ, तीव्र राग पूर्व में नहीं था और फिर हुआ अर्थात् असत्-उत्पाद हुआ, तो इस असत्-उत्पाद का कारण कौन है? कर्म का तीव्र उदय आया, इसलिए तीव्र राग हुआ? बाह्य संयोगों में फेर-फार हुआ, इसलिए हुआ? पूर्व में राग हुआ, इसलिए हुआ? नहीं! अज्ञानी जीव संयोगों तथा कर्म के कारण राग का होना मानता है, यह उसकी भूल है। संयोग अथवा कर्म तीव्र राग के

कर्ता, करण अथवा आधार नहीं हैं तथा पूर्व का राग भी वर्तमान राग का कारण नहीं है; अपितु चारित्र गुण ध्रुव है, वह विकार का कर्ता, करण और आधार है।

प्रश्न चारित्र गुण ध्रुव तो शुद्ध है, उसे विकार का कर्ता कैसे कहते हैं ?

उत्तर भाई ! गुण में अशुद्धता द्रव्यदृष्टि से नहीं है यह तेरी बात सही है; किन्तु पर्यायार्थिकनय से गुण स्वयं एक समय मात्र अशुद्ध परिणमित होता है; इसलिए विकार का कर्ता, करण और आधार चारित्रगुण है; क्योंकि वह उसी की पर्याय है। गुण तीनों काल की पर्यायों का पिण्ड है, उसमें से वर्तमान रागवाली पर्याय उसकी नहीं, यदि ऐसा कहकर एक पर्याय का अभाव करोगे तो गुण सम्पूर्ण सिद्ध नहीं होता।

चारित्र गुण स्वयं पहले मंदरूप या वही तीव्ररूप परिणमित होकर अन्यरूप हुआ है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण अथवा साधन नहीं है। एक समय की यही पर्याय अन्यरूप नहीं होती और अन्य कारण पर्याय नहीं होती, अपितु गुण स्वयं की परिणमित होकर अन्यरूप हुआ है।

यहाँ जो गुण, शक्ति, समान, ध्रुव, सादृश्य कहा है; उसे सामान्य द्रव्य भी कहने में आया है, यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और सादृश्यरूप जो पर्याय है जो उत्पाद-व्यय होता है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। गुण और पर्याय होकर सम्पूर्ण द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित सम्पूर्ण द्रव्य प्रमाणज्ञान का विषय है।

जो भाषा बोली जाती है, वह होंठ से नहीं होती। होंठ तो आहार वर्गणा से बने हैं और भाषा भाषा वर्गणा में से बनी है। जीव से भी भाषा नहीं बोली जाती; क्योंकि जीव और भाषा में अत्यन्त अभाव है। यह भाषा पूर्व पर्याय में से भी नहीं आई है; पहले तो परमाणु भाषा वर्णारूप थे और बाद में भाषारूप हुए, ये होंठ के कारण अथवा जीव की इच्छा के कारण नहीं आये। भाषा के परमाणु स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जो शक्तिरूप हैं; वे ही वाणी की अवस्थारूप हुए हैं।

द्रव्य का असत्-उत्पाद हुआ है, किन्तु यहाँ पर्याय का असत्-उत्पाद नहीं कहा। पहले जो भाव था, उसका तो नाश हुआ है। जो पर्याय नष्ट हो गई, उसका अन्यपना क्या है? अथवा पर्याय के कारण अन्यपना कैसा? पर्याय तो एक समय में एक ही है, वह दूसरे समय नहीं है; किन्तु द्रव्य अन्य-अन्य रूप परिणमित होता है। जब पूर्व पर्याय के कारण उत्पाद नहीं होता तो फिर निमित्त से उत्पाद होता है, यह बात तो स्थूल अज्ञान है। यदि निमित्त से उत्पाद होता है, ऐसा कहो तो निमित्त स्वयं ही निश्चय और उपादान हो जाता है, किन्तु यह बात तो असत् है। असत् उत्पाद स्वयं ही निश्चय है ऐसा सही ज्ञान करें, तब कौन निमित्त था, उसका ज्ञान करना व्यवहार है।

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायों परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थाई होते तो फिर मोक्ष कैसे होता ? अतः संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है।

बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२८

प्रवचनसार गाथा ११४

अब, एक ही द्रव्य के अनन्यपना और अनन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं):

द्ववट्टिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥११४॥
(हरिगीत)

द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है ।

पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है ॥११४॥

अन्वयार्थ : [द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक (नय) से [सर्व] सब [द्रव्यं] द्रव्य है; [पुनः च] और [पर्यायार्थिकेन] पर्यायार्थिक (नय) से [तत्] वह (द्रव्य) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, [तत्काले तन्मयत्वात्] क्योंकि उस समय तन्मय होने से [अनन्यत्] (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है ।

टीका : वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं : (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है । और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले और

सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति । (जैसे घास, लकड़ी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास, लकड़ी इत्यादि से अनन्य है; उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है पृथक् नहीं है ।) और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओं के) देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्व पर्यायस्वरूप विशेष तुल्यकाल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं ।

वहाँ एक आँख से देखा जाना, वह एकदेश अवलोकन है और दोनों आँखों से देखना, वह सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है । इसलिये सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते ।

भावार्थ : प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य वह का वही भी रहता है और बदलता भी है । द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक होने से द्रव्य के अनन्यत्व में और अन्यत्व में विरोध नहीं है । जैसे मरीचि और भगवान महावीर का जीव सामान्य अपेक्षा से अनन्यत्व और जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य सामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिये द्रव्य अनन्य अर्थात् वह का वही भासित होता है और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी चक्षु से देखने पर द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है । दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओं से देखने पर द्रव्यसामान्य और द्रव्य के विशेष दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है ।

गाथा ११४ पर प्रवचन

अब यह दर्शाते हैं कि एक द्रव्य सत् उत्पाद के समय यही द्रव्य है और अन्य-अन्य होता है, इसमें कोई भी विरोध नहीं आता :

द्रव्यार्थिकनय द्वारा सब द्रव्य है और व्यवहारनय से यह द्रव्य अन्य-अन्य होता है; क्योंकि उस समय तन्मय होने के कारण द्रव्य अवस्थाओं से अनन्य है ।

यहाँ द्रव्यार्थिकनय द्वारा जो द्रव्य कहा है; उस द्रव्य का अर्थ गुण, अंश, सामान्य शक्ति, ध्रुव शक्ति कही है । द्रव्यार्थिकनय से गुण, ध्रुवरूप, अन्वय शक्ति सादृश्य ऐसी की ऐसी है और वह वही है ।

अवस्थादृष्टि से देखा जाये तो गुण अन्य-अन्य अवस्था को धारण करता है । उससमय द्रव्य पर्याय में तन्मय है । आत्मा में ज्ञान-दर्शन की अवस्था के समय ज्ञान, दर्शन, गुण, पर्याय में तन्मय है । इसीतरह पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि गुणों की अवस्था के समय वह गुणपर्याय में तन्मय है अर्थात् पर्याय द्रव्य के साथ तन्मय है, किन्तु निमित्त के साथ तन्मय नहीं है; इसीतरह वह पूर्व पर्याय के साथ भी तन्मय नहीं है ।

जिस समय आम हरा है, उस समय उसका ध्रुव रंग स्वभाव हरी पर्याय में तन्मय है । इस समय यदि रंग का दूसरा स्वरूप ढूँढेंगे तो वह हाथ नहीं आयेगा । हरेपन का नाश होता है और पीलापन होता है तो यह पीलापन घास के कारण नहीं हुआ है; इसीतरह हरेपने में से पीलापन नहीं आता । घास पीली अवस्था का कर्ता, करण और आधार नहीं है तथा पूर्व की हरी अवस्था भी पीली अवस्था की कर्ता, करण और आधार नहीं है । आम स्वयं असत् उत्पाद को प्राप्त होती पीली अवस्था का कर्ता, करण और आधार है ।

टीका पर प्रवचन

वास्तव में सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हैं । द्रव्य-गुण-पर्याय का पिण्ड, वह वस्तु है ऐसा यहाँ अर्थ समझना और वह वस्तु प्रमाण-ज्ञान का विषय है ।

प्रत्येक वस्तु सामान्य तथा विशेष सहित है । ध्रुव, गुण, अन्वय

शक्ति, सादृश्य रहनेवाली वह...वह...वह... रहनेवाली शक्तियाँ ध्रुव शक्तियों को सामान्य कहते हैं और अवस्था, अंश, भेद, पलटती अवस्था, एक के बाद एक होनेवाली अवस्था यह वह नहीं, यह वह नहीं ऐसी विसादृश्य रहनेवाली अवस्थाओं को विशेष कहा जाता है इस तरह सामान्य और विशेष होकर सम्पूर्ण वस्तु होती है ऐसे वस्तुस्वरूप को देखनेवाले को अनुक्रम से सामान्य और विशेष को जाननेवाले दो ज्ञान चक्षु हैं ।

(१) द्रव्यार्थिकनय : जो श्रुतज्ञान का अंश सामान्य, ध्रुव, गुणों के समूह को ख्याल में लेता है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं ।

(२) पर्यायार्थिकनय : जो श्रुतज्ञान का अंश पर्याय को अवस्था को ख्याल में लेता है, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

अब, यहाँ तो वस्तु को देखने के लिए कहा है । स्कंध को देखने की बात नहीं ली । कर्म तो अनंत परमाणुओं के स्कंध हैं । एक-एक आत्मा तथा एक-एक रजकण को वस्तु लिया है । अब किस वस्तु को देखना है? तुझे आत्मा को देखना है अथवा कर्म को देखना है?

आत्मा में दर्शन, ज्ञानादि कायम रहनेवाली शक्तियाँ हैं । इस ध्रुव को देखनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और आत्मा में स्वयं की योग्यता के कारण राग-द्वेष, अल्पज्ञता आदि अवस्थाएँ हैं इन अवस्थाओं को देखनेवाला पर्यायार्थिकनय है ।

आत्मा की तरफ देखने पर अनुक्रम से आत्मा का सामान्य और आत्मा का विशेष दिखाई देता है; किन्तु अन्य जीव, कर्म अथवा शरीर दिखाई नहीं देता ।

कर्म तो अनेक परमाणु की स्कंधरूप अवस्था है । यहाँ एक वस्तु की ही बात की है । उसमें एक कर्म का परमाणु है, उसका सामान्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि कायम (ध्रुव) शक्तियाँ हैं, इन ध्रुव शक्तियों को देखनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और क्षेत्रांतर अथवा स्पर्शादि की उसकी अवस्थाएँ हैं, उसे देखनेवाला पर्यायार्थिकनय है । कर्म में अनुक्रम से कर्म का सामान्य और विशेष दिखाई देता है, किन्तु कर्म के साथ रागी जीव है

ऐसा दिखाई नहीं देता ।

निगोद में अनंत आत्मा एक साथ हैं, उन्हें यहाँ नहीं लिया, अपितु एक-एक आत्मा को लिया है और एक-एक आत्मा को स्वतंत्र देखना है ।

ध्रुव अर्थात् सामान्य और पर्याय अर्थात् विशेष । इसप्रकार सामान्य और विशेष दोनों को अनुक्रम से देखना है । निमित्त के कारण अनुक्रम नहीं है तथा पूर्व पर्याय के कारण भी अनुक्रम नहीं है । ध्रुव और पर्याय वर्तती है, उसे अनुक्रम से देखना है ।

यह वही है ऐसी सादृश्य वस्तु को देखनेवाले ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और वह नहीं, वह नहीं ऐसी अन्य-अन्य अवस्था को देखनेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहते हैं । एक ही वस्तु को दो तरफ से देखने की बात है । जब एक वस्तु को देखने की बात चलती हो, तब बीच में दूसरी वस्तु को देखने की बात करे तो अज्ञानभाव है ।

जब आत्मा के राग की पर्याय को देखने की बात चलती हो, तब अज्ञानी कहता है कि उसे निमित्त तो था न? उसे कहते हैं कि भाई! जब आत्मा को देखने की बात चलती है, तब वहाँ दूसरी वस्तु की बात किसलिये करता है? जब निमित्त को देखना हो, तब निमित्त के ध्रुव गुण और निमित्त की अवस्था ये दो दृष्टि से निमित्त के स्वभाव को देख, किन्तु निमित्त की बात के समय उपादान की बात की मिलावट करता है और उपादान का ज्ञान करते समय निमित्त की बात लाकर तेरे ज्ञान में जो यह मिलावट करता है, वह तेरी भूल है ।

इसतरह स्वतंत्ररूप से जिसे ज्ञान में लेना हो, उसे यथार्थ ज्ञान में लेना वीतरागी विज्ञान है । ऐसे सही ज्ञानपूर्वक वीतराग दृष्टि होती है, पश्चात् वीतरागी चारित्र पूर्ण होकर, वीतराग-विज्ञान पूर्ण होकर सिद्ध-दशा प्रगट होती है ।

“पर्यायार्थिकनय को गौण करके अकेले द्रव्यार्थिकनय से जब वस्तु का ज्ञान किया जाता है; तब नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धत्व इन सभी अवस्थाओं में जीव सामान्यपने से देखने पर ये

सभी जीव हैं ऐसा निश्चित होता है अर्थात् ये अन्य जीव नहीं, अजीव भी नहीं हैं । जीव एक गति में से दूसरी गति में जाये तो वह दूसरा जीव नहीं हो जाता ।

एक आम हरा-पीला होता है तो द्रव्यार्थिकनय से ऐसे के ऐसे परमाणु का सादृश्यत्व मालूम पड़ता है । उसकी सामान्य शक्ति स्पर्श, रस, गंध, वर्ण यहीं की यहीं सादृश्य एकरूप मालूम पड़ती है । इसीतरह जीव नरक में जाये अथवा मनुष्य में जाये तो भी जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि शक्तियाँ ऐसी की ऐसी सादृश्य, ध्रुव, नित्य हैं यह मालूम पड़ता है, ये सभी द्रव्य गुण ही है, अन्य नहीं । यहाँ तो गति का दृष्टांत दिया है; इसीतरह एक जीव शुभ राग करे तथा अशुभ राग करे, क्षण में क्रोध करे, द्वेष करे, मान करे, माया करे इन सभी परिणामों के समय द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो एक ही जीव मालूम पड़ता है । जीव के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि सामान्य शक्ति स्वरूप, सादृश्य, ऐसा का ऐसा मालूम पड़ता है, किन्तु अन्य जीव मालूम नहीं पड़ता ।

जब द्रव्यार्थिकनय को गौण करके पर्यायार्थिकनय से देखा जाता है; तब पृथक्-पृथक् अवस्था को देखनेवाले नय से वह द्रव्य पृथक्-पृथक् भासित होता है । जैसे कि मनुष्य पर्याय देव पर्याय नहीं है, देव पर्याय सिद्ध पर्याय नहीं है । इसप्रकार अवस्था से देखा जाए तो जीव अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि वह विशेषों के समय में तन्मय होने के कारण वह उनसे पृथक् नहीं, अपितु अनन्य है ।

आम हरी अवस्था के समय सम्पूर्ण हरेपने से तन्मय है और पीलेपने के समय पीलेपने से तन्मय है । हरा वह पीला नहीं है और पीला वह हरा नहीं है इसप्रकार अवस्थादृष्टि से आम अन्य-अन्य होता है ।

कण्डा, घास और काष्ठ की अग्नि के समान कण्डा की अग्नि कण्डा से एकमेक है, घास की अग्नि घास से एकमेक है, काष्ठ की अग्नि काष्ठ से एकमेक है पृथक् नहीं । सम्पूर्ण द्रव्य उन-उन अवस्थाओं के विशेषों के समय में उस मय होता है । द्रव्य, पर्याय से पृथक् नहीं रहता ।

जीव द्रव्य को क्रोध होता है, मान होता है; तब उन अवस्थाओं में जीव द्रव्य सम्पूर्ण क्रोधमय होता है, मानमय होता है। शुभभाव के समय जीव शुभभावमय होता है। इसप्रकार अवस्था दृष्टि से जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।

मुनि छठवें गुणस्थान में होते हैं। देह छूटने के समय छठवें गुणस्थान में और दूसरे समय देव पर्याय में चौथे गुणस्थान में होते हैं। यदि ग्यारहवें गुणस्थान में मुनि की देह छूट जाए तो देवगति में चौथे गुणस्थान में हो जाते हैं। अतः चौथे गुणस्थान की पर्याय का कर्ता, करण और आधार पूर्ववर्ती ग्यारहवें गुणस्थान की पर्याय नहीं है। ध्रुव जीव चौथे गुणस्थान की पर्याय का कर्ता, करण और आधार है। जीव स्वयं अन्य-अन्यरूप होता है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की हजारों देव सेवा करते थे, सेना भी बहुत थी। पुत्र, पुत्री, दामाद बहुत थे, कीमती पलंग पर सोता था; मृत्यु को प्राप्त हुआ, उसी समय वह सातवें नरक में चला गया। कर्म के कारण वह नरक में नहीं गया। पूर्व पर्याय तो मनुष्य चक्रवर्ती की है, वर्तमान पर्याय तो नरक की है। पूर्व पर्याय नरक में जाने का कारण नहीं है। ब्रह्मदत्त का जीव स्वयं अपनी योग्यता से नरक में गया है, उस समय वह उससे एकमेक है और पर्यायरूप से अन्य-अन्य हुआ है।

प्रवचनसार गाथा दस टीका में बताया है कि परिणाम बिना पदार्थ नहीं। ऐसा कहकर पदार्थ में सभी जाति के परिणामों को बताया था और गाथा एक सौ नवासी में बताया है कि जीव स्वयं ही अशुद्ध परिणामों का कर्ता है। द्रव्य स्वयं से उत्पन्न हुए अशुद्ध परिणामों का कर्ता है। ऐसा बताया है, निमित्त से उत्पन्न है। ऐसा नहीं कहा। उस समय के ज्ञेय का यथार्थ ज्ञान कराया है।

विशेषों में रहे हुए द्रव्य को जानना, वह द्रव्यार्थिकनय है।

द्रव्य में रहे हुए विशेषों को जानना, वह पर्यायार्थिकनय है।

एक-एक ज्ञेय का ऐसा सामान्य-विशेषात्मक स्वभाव है। एक ज्ञेय के समय दूसरे ज्ञेय को देखने जाये तो वह यथार्थ नहीं, किन्तु एक ज्ञेय को

दोनों तरफ से जानकर सही ज्ञान करे तो वह धर्म का कारण होता है।

एक आत्मा और परमाणु आदि द्रव्य अपनी जिस अवस्थारूप से परिणमित होते हैं, उस समय वह वस्तु उस पर्याय से एकाकार तन्मय होने से, पृथक् नहीं है। देव-नारकीपने की पर्यायरूप से जीव की अवस्था अपनी स्वतंत्र योग्यता से है; उनसे जीव स्वयं तन्मय है, किन्तु उससे पृथक् नहीं रहा।

द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो सिद्ध पर्याय में अथवा संसार पर्याय में जीव वही का वही है। नित्य, द्रव्य सामान्यरूप से देखना यह एक आँख है; अनित्य, पर्याय विशेषरूप से देखना यह भी एक आँख (दृष्टि) है, यह एक देश अवलोकन है। प्रमाणरूप उभयदृष्टि से देखो तो भी किसी भी द्रव्य का पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। विकल्प से, व्यवहार से लाभ होता है अथवा निमित्त से लाभ होता है। ऐसा देखना, यह सुदृष्टि का ज्ञान नहीं है।

स्वतंत्र द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान करके ध्रुव तरफ लक्ष्य करे तो विकल्प भेद, पर्याय का ज्ञान व्यवहार कहलाता है। निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय माने तो दोनों ही नहीं रहते, किन्तु पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। द्रव्य सामान्य तरफ अभेदबुद्धि कराने के लिए पर्याय-भेद को गौण करके सामान्य को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है।

विकल्प जीव का परमार्थ स्वरूप नहीं है। विकल्प असद्भूत उपचार से है, गुण-गुणी का भेद सद्भूत अनुपचार है। इसतरह सभी व्यवहार व्यवहार के लिए नहीं, अपितु स्वभाव में अभेददृष्टि कराने के लिए हैं; दूसरे का आश्रय अथवा संयोगी जीव को देखने के लिए नहीं।

स्व का ज्ञान होने पर, पर का ज्ञान अपने निश्चय ज्ञान से होता है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव अपना है; इसलिए निश्चय है, पर्याय भी निश्चय है। सामान्य ध्रुव भी निश्चय है। वस्तु का सर्वदेश प्रमाण ज्ञान से अवलोकन करने पर स्वतंत्र एक-एक द्रव्य में उनका भेद-अभेदपना विरोध को प्राप्त नहीं होता। विरोध तो परद्रव्य की जरूरत (आवश्यकता) स्वीकार करनेवाले अज्ञान में है।

निगोद-अवस्था में जो जीव था, उसे सिद्ध-अवस्था में देखो तो पर्याय अपेक्षा से वह अन्य-अन्य है और द्रव्यार्थिक दृष्टि से अनन्य वह का वही है। इसमें अन्य संयोगों को देखने की बात नहीं की। प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान योग्यता, वह उसका विशेष और और ध्रुवता वह सामान्य; उसमें उसी को देखना चाहिए, अन्य द्वारा उसमें कुछ भी फेर-फार होता हुआ देखना मिथ्या है।

परमाणु, स्कंध की पर्यायरूप से अपनी योग्यता से रहा है, वह उसकी पर्याय से तन्मयरूप से वह का वही है, उसमें पर को देखने से उसकी सिद्धि नहीं होती।

संसारी जीव को एक क्षेत्र में निधत्त और निकाचित् कर्म के ढेर पड़े हों, उसे नहीं देखना; किन्तु उनकी वर्तमान योग्यतारूप पर्याय और उनके ध्रुवत्व को देख; पर के सम्बन्ध को नहीं देख। सम्पूर्ण लोक में अचेतन महास्कंध हैं; उसमें भी प्रत्येक परमाणु को उसकी पर्याय में उस समय में वैसी योग्यता से तन्मय देख। द्रव्य और पर्याय का एक साथ अवलोकन प्रमाण-दृष्टि है।

परमाणु, परमाणुरूप से ही रहा है; स्थूलता में अथवा सूक्ष्मता में रहने की उस-उस समय की उसकी स्वतंत्र योग्यता है। एक परमाणु की पर्याय दूसरे परमाणु की पर्याय को स्पर्श नहीं करती। प्रत्येक परमाणु द्रव्य अपनी पर्याय से देखने पर अन्य है और अभेद से देखने पर वह का वही है।

कर्म के होने में भी उस समय की उन परमाणुओं की योग्यता है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं से सामान्य-विशेषरूप है; इसकारण प्रत्येक द्रव्य अपनी सभी अवस्थाओं में वह का वही सामान्यरूप से ध्रुव रहता है और अवस्था विशेषरूप से वही बदलता है; इसके लिए कोई किसी दूसरे का आधार माने तो कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती। पानी की अवस्था उसकी योग्यता के कारण ही उष्ण होती है, इसीलिये अग्नि के कारण उष्ण होना माननेवाले मूढ़ हैं। अग्नि की अस्ति से पानी की उष्णता की अस्ति है ऐसा मिथ्या अवलोकन तू कहाँ से लाया?

पेट्रोल के कारण मोटर का क्षेत्रांतर नहीं होता। नीचे के परमाणु के कारण ऊपर के परमाणु नहीं हैं। प्रमाणज्ञान से तो प्रत्येक की स्वतंत्रता दिखाई देती है उसमें संयोग नहीं दिखता। हे भाई! तुझे ऐसा लगता होगा कि देव-आयु का उदय आया; इसीलिये जीव स्वर्ग में गया जबकि ऐसा नहीं है। प्रमाणज्ञान तो स्वतंत्र द्रव्य और उनकी पर्याय का सम्बन्ध बताता है। इनकी पर्याय इनसे है, किसी अन्य से नहीं।

पर्याय से अन्यत्व और द्रव्य से अनन्यत्व, वह का वही, एक द्रव्य में ही देखने में आता है; अन्य पदार्थों द्वारा उसका विलक्षणपन अनेकत्व नहीं देखा जा सकता। प्रमाण-ज्ञान उभयात्मक है। सिद्ध में अथवा निगोद में सामान्य-विशेष प्रतिसमय स्वयं से है, पर से नहीं।

लकड़ी लकड़ी के कारण उसके समय में ऊँची होती है, उसमें उन पर्यायों का अन्यत्व, वह विशेष है और उसका ध्रुव, वह सामान्य इसप्रकार प्रमाण-ज्ञान एक द्रव्य में उभयात्मक बनाता है। अज्ञानी इसे अन्य के द्वारा होना मानता है, इसीलिये उसने सत् द्रव्य नहीं माना।

प्रत्येक द्रव्य का तथा उनके अनंत गुणों का पलटना उनके अन्यत्व के कारण है और इनका ध्रुवत्व एकत्व भी इन्हीं के कारण है। ऐसे ही सर्वज्ञेय हैं और ज्ञान उनके ऐसे ही जाननेरूप है।

चैतन्य स्व-परप्रकाशक है। स्व-पर ज्ञायक शक्ति स्वतंत्ररूप से रहकर परिणमित होती है ऐसा जिसने नहीं माना; उसने आत्मा को ही नहीं माना। जड़ पदार्थ, जड़ पदार्थ की सर्व शक्तियों से जड़ेश्वर है और चैतन्य आत्मा चैतन्यरूप से पूर्ण ईश्वर है।

द्रव्यार्थिकनय से वह का वही भासित होता है और पर्यायार्थिकनय से वही अन्यत्वरूप दिखाई देता है। कहाँ निगोद अथवा नारकी और कहाँ सिद्धदशा। मनुष्य के शरीर में कैंसर हो जाता है, खून का पानी हो जाता है, जहर चढ़ जाता है इत्यादि जड़ का पर्यायधर्म अपने समय में अपनी योग्यता के कारण होता है। मति-श्रुतज्ञान पलटकर क्षण में पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है। अतः सामान्य-विशेष स्व द्रव्य में देखना, संयोग में नहीं।

प्रवचनसार गाथा ११५

अब, समस्त विरोधों को दूर करनेवाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं :
अत्थित्ति यणत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।

पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥११५॥

(हरिगीत)

अपेक्षा से द्रव्य 'है' 'है नहीं' 'अनिर्वचनीय है' ।

'है है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं ॥११५॥

अन्वयार्थ : [द्रव्यं] द्रव्य [अस्ति इति च] किसी पर्याय से 'अस्ति', [नास्ति इति च] किसी पर्याय से 'नास्ति' [पुनः] और [अवक्तव्यम् इति भवति] किसी पर्याय से 'अवक्तव्य' है, [केनचित् पर्यायेण तु तदुभयं] और किसी पर्याय से 'अस्ति-नास्ति' [वा] अथवा [अन्यत् आदिष्टम्] किसी पर्याय से अन्य तीन भंगरूप कहा गया है ।

टीका : द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षा से 'स्यात् अस्ति'; (२) पररूप की अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति'; (३) स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अवक्तव्य'; (४) स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति'; (५) स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य'; (६) पररूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से स्यात् नास्ति अवक्तव्य; और (७) स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य' है ।

१. स्यात् = कथंचित्; किसी प्रकार; किसी अपेक्षा से । (प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से 'अस्ति' है । शुद्ध जीव का स्वचतुष्टय इस प्रकार है : शुद्ध गुण-पर्यायों का आधारभूत शुद्धात्मद्रव्य वह द्रव्य है; लोकाकाशप्रमाण शुद्ध असंख्यप्रदेश वह क्षेत्र है, शुद्ध पर्याय रूप से परिणत वर्तमान समय वह काल है और शुद्ध चैतन्य वह भाव है ।)

२. अवक्तव्य = जो कहा न जा सके । (एक ही साथ स्वरूप तथा पररूप की अपेक्षा से द्रव्य कथन में नहीं आ सकता, इसलिये 'अवक्तव्य' है ।)

द्रव्य का कथन करने में, (१) जो स्वरूप से 'सत्' है; (२) जो पररूप से 'असत्' है; (३) जिसका स्वरूप और पररूप से युगपत् कथन अशक्य है; (४) जो स्वरूप से और पररूप से क्रमशः 'सत् और असत्' है; (५) जो स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूप से, पररूप और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर 'विवक्षित-अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित करने पर 'स्यात्काररूपी अमोघ मंत्र पद के द्वारा 'एव'^३ कार में रहनेवाले समस्त विरोधविष के मोह को दूर करती है ।

गाथा ११५ पर प्रवचन

विश्व में आत्मादि जो सर्व पदार्थ हैं, वे स्वयंसिद्ध सत् तत्त्व हैं । जो सत् है, उसे किसी ने नहीं बनाया है और यदि किसी ने बनाया हो तो वह नित्य नहीं होता । सत् तत्त्व नहीं था ऐसा नहीं है । है...है...है... । प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि धर्म सत् रूप हैं । उन प्रत्येक धर्म को मुख्य, गौण, क्रम, युगपत् आदि सात प्रकार से कहा जा सकता है । जो है, उसका कहना होता है और जो नहीं होता, उसका कथन भी नहीं होता ।

प्रत्येक द्रव्य का स्वयं से अस्तित्व और पर से नास्तित्व है । यदि पर

१. विवक्षित (कथनीय) धर्म को मुख्य करके उसका प्रतिपादन करने से और अविवक्षित (न कहने योग्य) धर्म को गौण करके उसका निषेध करने से सप्तभंगी प्रगट होती है ।
२. स्याद्वाद में अनेकान्त का सूचक स्यात् शब्द सम्यक्तया प्रयुक्त होता है । वह स्यात् पद एकान्तवाद में रहनेवाले समस्त विरोधरूपी विष के भ्रम को नष्ट करने के लिए रामबाण मंत्र है ।
३. अनेकान्तात्मक वस्तु स्वभाव की अपेक्षा से रहित एकान्तवाद में मिथ्या एकान्त को सूचित करता हुआ जो 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, वह वस्तु स्वभाव से विपरीत निरूपण करता है; इसलिये उसका यहाँ निषेध किया है । (अनेकान्तात्मक वस्तु स्वभाव का ध्यान चूके बिना, जिस अपेक्षा से वस्तु का कथन चल रहा हो, उस अपेक्षा से उसका निर्णीतत्व, नियमबद्धत्व, निरपवादत्व बतलाने के लिए 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए ।

के द्वारा स्वयं का अस्तित्व हो तो किसी का भी स्वरूप सत् नहीं रहता। शरीर का टिकना आत्मा के कारण नहीं है और आत्मा भी शरीर के कारण नहीं है। इसीतरह जड़ कर्म भी जगत की स्वतंत्र वस्तु है, जो स्वयं के स्वरूप से सत् है और आत्मा रूप से वह असत् है। इसीलिये वे आत्मा में किसी कारण से लाभ-नुकसान नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् रूप है; वह पर के कारण, कर्म के कारण अथवा ईश्वर के कारण नहीं है; क्योंकि पररूप से वह त्रिकाल असत् है। यदि जैसा स्वयं से है, वैसा ही पर से भी हो तो कोई भी सत् नहीं रहेगा। असत् अर्थात् नास्ति धर्म भी प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय नहीं है। जड़कर्मरूप से आत्मा असत् है और आत्मा की अपेक्षा से जड़कर्मादि असत् हैं; तो फिर कर्मादि परवस्तु आत्मा को लाभ-नुकसान करे, यह तो कभी हो ही नहीं सकता। कोई तो ईश्वर को कर्ता मानते हैं और यहाँ जैन नामधारी मानते हैं कि कर्म जीव को राग द्वेष-मोह कराते हैं रखड़ाते हैं तो वे जड़कर्म को ईश्वर मानते हैं।

जड़कर्म उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् हैं और जीव के लिए वे असत् हैं। कर्म मुझे राग-द्वेष-भ्रम पैदा कराते हैं। ऐसी मान्यता अज्ञानी जीव की पर्याय में सत् है और जड़कर्मरूप से असत् है। किसी के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का सत् किसी के कारण नहीं है। जीव के राग के कारण कर्म की पर्याय सत् नहीं है।

जीव राग नहीं करे तो क्या फिर भी कर्म की बन्धरूप पर्याय होगी? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान यह है कि कर्म की पर्याय उन परमाणुओं के उस काल की अपेक्षा से सत् है और जीव के रागरूप से असत् है। एक समय मात्र का ही पर्याय का काल है, त्रिकाली नहीं ऐसा एक द्रव्य में भी अनेकांत है।

जिसप्रकार वस्तु स्वयं के स्वरूप से है, वैसी ही पररूप से भी है यदि ऐसा कहोगे तो उसकी स्वतंत्र अस्ति नहीं रहेगी। एक समय की विकारी पर्याय निश्चय है, ज्ञेय है, स्वयंसिद्ध सत् है, वह पर के कारण नहीं

है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है और जहाँ रागादि को पुद्गल कहा, वहाँ अजीव वे जीव के ध्रुवस्वभाव में व्याप्त नहीं होते। ऐसा कहकर अभेददृष्टि कराते हैं।

निगोद-अवस्था से चौदह गुणस्थान तक संसार का उदयभाव जीव के कारण सत् है और वह पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के कारण नहीं है ऐसा माननेवाले ने ही तो सत् सप्तभंगी का प्रयोजन जाना है।

सर्वज्ञ की वाणी में तथा ज्ञान में ऐसा आया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं से ही सत् है और पररूप से असत् है। अहो! किसी अन्य से कुछ लाभ-नुकसान हो जाये। ऐसा तो देखना ही नहीं रहा, पर के कारण तो नहीं, अपने द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं; अपितु स्वयं की उस समय की योग्यता से ही रागादि पर्याय का सत्पना है।

प्रत्येक आत्मा आदि (द्रव्य) का स्व से सत्पना और पर से असत्पना अनादि-अनंत इसीतरह है, अन्यप्रकार से नहीं। सर्वज्ञ ने ऐसा ही जाना है, ऐसा ही उनकी वाणी में भी आया है तथा श्रुतज्ञान में - नय सप्तभंगी में भी ऐसा ही है।

निमित्त के कारण नैमित्तिक सत् नहीं है। कार्य तो उस समय उसकी योग्यता से होता है। मौसम के कारण परमाणु ठण्डे अथवा उष्ण होते हैं ऐसा पर के द्वारा अस्तित्व का होना वस्तुस्वभाव में नहीं है। स्यात्काररूपी अमोघमंत्र द्वारा संसार विष का नाश हुए बिना नहीं रहता।

कोई मानता है कि व्यवहार के ग्रंथ जो कुछ कहते हैं, उसका निषेध निश्चयनय नहीं कर सकता। निश्चय के शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से त्रिकाल असत् है और व्यवहार की मुख्यतावाले शास्त्र कहते हैं कि कदाचित् पर से भी अस्तित्व है, निमित्त से अथवा राग से लाभ होता है। ऐसा दोनों को समान माने, यह तो उसकी मूढ़ता है। जिसका निराकरण सत् श्रुतज्ञान द्वारा सप्तभंगी करता है। निधत्त अथवा निकाचित् कर्म...पर्याय उनके कारण उस समय सत् है, जीव के स्वरूप से वे त्रिकाल असत् हैं। आत्मा ने शुद्धभाव किया,

इसीलिये कर्म का नाश हुआ ऐसा नहीं है।

शरीर में फोड़ा हुआ, वह उसरूप से सत् है, वहाँ जो जीव अशुभभाव करे तो यह पापभाव इस समय में उसके रूप से सत् है। संसार पर्याय के काल में वह पर्याय सत् है और उस समय में मोक्ष पर्याय असत् है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। जीव स्व-पर ज्ञेय को यथार्थ जाने तो पराश्रय-राग का निषेध करके सम्यक्-एकांत स्वभाव में झुके।

जब देखो, तब प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप से ध्रुव रहना और स्वरूप से बदलना है। कभी भी पररूप से उसका होना सम्भव नहीं है। पर का आधार लेना और पर को आधार देना ऐसा स्वरूप किसी में नहीं है। आत्मा कर्म परमाणुरूप नहीं होता, इसीलिये पर की ओर देखना नहीं रहा। खून, मांस, रोगादि में परमाणु को देखो अथवा पृथक् देखो, किन्तु वे उस समय उनकी योग्यता से उस स्वरूप हैं, पर से नहीं। इसतरह प्रत्येक पदार्थ में अस्ति-नास्ति सिद्ध हो सकती है।

विवक्षित धर्म को मुख्य और दूसरे को गौण करके अस्ति-नास्ति की मुख्यता से कहने पर सात प्रकार होते हैं :

(१) द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा से स्यात् अस्ति है।

(२) पररूप की अपेक्षा से स्यात् नास्ति है।

(३) स्वरूप से और पररूप क्रम से एक ही साथ कहा जाना अशक्य है, इसीलिए स्यात् अवक्तव्य है।

(४) स्वरूप और पररूप के क्रम की अपेक्षा से स्यात् अस्ति-नास्ति है।

(५) स्वरूप से अस्ति तथा स्वरूप-पररूप का एक साथ कहा जाना अशक्य है; इसीलिए स्यात् अस्ति अवक्तव्य है।

(६) पररूप से नास्ति और स्वरूप-पररूप का एक साथ कथन करना अशक्य है; इसीलिए स्यात् नास्ति अवक्तव्य है।

(७) स्वरूप और पररूप की अपेक्षा से अस्ति-नास्ति और दोनों के एक साथ होने की अपेक्षा से कहा जाना अशक्य होने से स्यात् अस्ति-

नास्ति अवक्तव्य है।

साधक की दृष्टि में निरंतर अभेदस्वभाव ही मुख्य रहता है और भेद-विकल्प व्यवहार तो गौण ही रहते हैं; कभी भी भेद की मुख्यता ही नहीं होती। ज्ञान से व्यवहार को जानता है यह बात सही है, किन्तु आदर तो निश्चय का ही करता है। इसतरह स्वतःसिद्ध वस्तु में, ज्ञान में, कथन में प्रगट होनेवाले सात भंग प्रत्येक में लागू होने से सदा ही सम्यक् प्रकार से कहे जानेवाले स्यात्काररूप अमोघ मंत्र द्वारा 'ही' में रहनेवाले सभी विरोध विष के मोह को दूर करता है।

सभी स्वरूप से ही हैं ऐसा एक ही धर्म मानकर सभी को समान मानने जाये तो यह मिथ्या एकांत रूप जहर है, किन्तु प्रत्येक वस्तुस्वरूप से है और पररूप से नहीं इसप्रकार अस्ति-नास्तिरूप दोनों अपेक्षा जीवित रखने से इसमें सम्यक् अनेकांत स्वभाव का अमृत बहता है।

किसी भी नियम को बताने के लिए 'ही' शब्द का प्रयोग करें तो वह दोषरूप नहीं है। जो स्वरूप से है, वही वस्तु पररूप से है ऐसा कहने से पर के अभाव अर्थात् 'नहीं है' की अपेक्षा ख्याल में आती है। संसार-दशा जीव की अपनी योग्यता से ही है, पर से नहीं ऐसे 'ही' का सप्तभंगी स्वीकार किया है, किन्तु पर द्वारा अपनी पर्याय का अस्तित्व माने तो अनेकांत नहीं रहता।

जो है, वही पर की अपेक्षा से नहीं है यह सम्यक् है। विकार स्व से होता है, किन्तु पर से भी होता है यह संशयवाद है। कर्म, मार्ग दें तो मुक्ति होती है और किसी समय पुरुषार्थ से मुक्ति होती है ऐसा माने तो यह मिथ्यात्व है। किसी को किसी समय पराश्रय के राग से धर्म हो जाये और किसी को निश्चय से वीतरागता से धर्म हो जाये ऐसा मानना मिथ्यात्व है। ऐसी एकांत जहररूप मान्यता के मोह को सम्यक् प्रकार का स्याद्वाद नाश करता है। ●

प्रवचनसार गाथा ११६

अब, जिसका निर्धार करना है, इसलिये जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें क्रिया का फल हैं; इसलिये उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं इसप्रकार) प्रकाशित करते हैं :

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिफफलो परमो ॥११६॥

(हरिगीत)

पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो ।

है अफल परमधर्म परन्तु क्रिया अफल नहीं कही ॥११६॥

अन्वयार्थः [एषः इति कश्चित् नास्ति] (मनुष्यादिपर्यायों में) 'यही' ऐसी कोई (शाश्वत पर्याय) नहीं है; [स्वभावनिरवृत्ता क्रिया नास्ति न] (क्योंकि संसारी जीव के) स्वभावनिरवृत्ता क्रिया नहीं हो, सो बात नहीं है; (अर्थात् विभावस्वभाव से उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय क्रिया अवश्य है ।) [यदि] और यदि [परमः धर्मः निःफलः] परमधर्म अफल है तो [क्रिया हि अफला नास्ति] क्रिया अवश्य अफल नहीं है; (अर्थात् एक वीतराग भाव ही मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती; राग-द्वेषमय क्रिया तो अवश्य वह फल उत्पन्न करती है ।)

टीका : यहाँ (इस विश्व में), अनादिकर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण) से जिसके प्रतिक्षण विवर्तन होता रहता है ऐसे संसारी जीव को क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है; इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया

१. विवर्तन = विपरिणमन; पलटा (फेरफार) होते रहना ।

फलस्वरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं । और क्रिया का फल तो, मोह के साथ मिलन का नाश न हुआ होने से मानना चाहिए; क्योंकि प्रथम तो, क्रिया चेतन की पूर्वोत्तरदशा से विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है; और वह (क्रिया) जैसे दूसरे अणु के साथ युक्त (किसी) अणु की परिणति द्विअणुककार्य की निष्पादक है, उसी प्रकार मोह के साथ मिलित आत्मा के संबंध में, मनुष्यादिक कार्य की निष्पादक होने से सफल ही है; और, जैसे दूसरे अणु के साथ का संबंध जिसका नष्ट हो गया है ऐसे अणु की परिणति द्विअणुक कार्य की निष्पादक नहीं है; उसीप्रकार मोह के साथ मिलन का नाश होने पर वही क्रिया द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से परमधर्म नाम से कही जानेवाली ऐसी मनुष्यादि कार्य की निष्पादक न होने से अफल ही है ।

भावार्थ :- चैतन्य परिणति वह आत्मा की क्रिया है । मोह रहित क्रिया मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती और मोह सहित क्रिया अवश्य मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न करती है । मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते, इसलिये उसके फलरूप मनुष्यादिपर्यायें भी टंकोत्कीर्ण-शाश्वत-एकरूप नहीं होतीं ।

गाथा ११६ पर प्रवचन

प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि अनादि-अनंत, स्वतःसिद्ध होने से स्वचतुष्टय से हैं, किन्तु परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं; इसीलिए कोई किसी दूसरे का कुछ कर दे ऐसी वस्तुस्थिति किसी भी प्रकार से नहीं है; क्योंकि एक में दूसरे का अत्यंत अभाव है । प्रत्येक पदार्थ स्व से

१. उत्तर-उत्तर = बाद की । (मनुष्यादि पर्यायें राग-द्वेषमय क्रिया की फलरूप हैं, इसलिये कोई भी पर्याय पूर्व पर्याय को नष्ट करती है और बाद की पर्याय से स्वयं नष्ट होती है ।)
२. मिलन = मिल जाना; मिश्रितपना; संबंध; जुड़ान ।
३. विशिष्ट = भेदयुक्त । (पूर्व की और पश्चात् की अवस्था के भेद से भेद युक्त ऐसे चैतन्य परिणाम वह आत्मा की क्रिया है ।)
४. द्विअणुककार्य की निष्पादक = दो अणुओं से बने हुए स्कंधरूप कार्य की उत्पादक ।
५. मूल गाथा में प्रयुक्त 'क्रिया' शब्द से मोह सहित क्रिया समझनी चाहिए । मोह रहित क्रिया को तो 'परम धर्म' नाम दिया गया है ।

ध्रुव रहकर परिणमित हो रहा है ऐसे स्व-चतुष्टय की शक्ति स्व से है, पर से नहीं।

प्रश्न : आत्मा द्रव्य-गुण से त्रिकाल शुद्ध है तो फिर वर्तमान पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आई?

समाधान : अपनी स्वकाल की योग्यता से यह अशुद्धता ही सत् है, पर से नहीं। संयोग को देखनेवाला पर के द्वारा अशुद्धता मानता है अर्थात् पर मुझे अशुद्धता कराता है ऐसा मानता है, उसने स्व-पर की भिन्नता को नहीं जाना।

इसके उदाहरण के लिए गाथा ११६ में कहते हैं कि अशुद्धतारूप चार गति के विकारीभाव जीव के स्वचतुष्टय से हैं। इसमें, परचतुष्टय कारण नहीं है। यदि पर कारण हो तो पुरुषार्थ करना नहीं रहता।

मनुष्य आदि पर्यायों में विभाव स्वभाव से जीव की स्वकाल की योग्यता से उत्पन्न होती हुई राग-द्वेषमय क्रिया संसार फल के लिए सफल है और वीतरागी श्रद्धा और चारित्ररूप परमधर्म संसार के लिए अफल है। वीतरागभाव से संसार नहीं है, शुभाशुभ विभाव स्वभाव से संसार है यह नियम है।

संसार-अवस्था में विभाव भी पर्याय का स्वभाव है; पर के द्वारा उसकी रचना नहीं होती, क्योंकि स्वचतुष्टय में परचतुष्टय किसी भी प्रकार से नहीं है। यहाँ राग-द्वेषमय क्रिया को स्वभाव निष्पन्न कहा है। कर्म से अथवा निमित्त से विकार होता है ऐसा माननेवाले के पास जब वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता को भी स्वीकार करने की ताकत नहीं है तो फिर वह त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, यह बात यथार्थरूप से स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मा में संसार है, वह उदयभाव स्वतत्त्व है, किन्तु ध्रुव स्वभाव नहीं। सबसे पहले पर्याय की स्वतंत्रता को स्वीकार करे कि विकार मेरी कमजोरी के अपराध से करने में आये तो होता है, कर्म से नहीं; द्रव्य तो शुद्ध ही है और पर्याय में विकार पर से होता है ऐसा मानकर जो स्वच्छंदी होता है, उसे समझना चाहिए कि स्वचतुष्टय में

परचतुष्टय त्रिकाल में नहीं है। जो यह समझे बिना विपरीत माने कि कर्म का जैसा उदय आयेगा, उसी के प्रमाण में राग-द्वेष करना पड़ेगा तो ऐसी मान्यता ईश्वर को कर्ता मानने जैसी ही है; वह स्वतंत्र सत् को नहीं जानता।

राग-द्वेष से आत्मा को पृथक् करना है ऐसा कोई माने तो उससे कहते हैं कि वर्तमान में जो उत्पादरूप है, उसे कैसे दूर करेगा? और दूसरे समय तो वह (स्वयं) चला जायेगा तो फिर उसे क्या दूर करेगा और जो हुआ नहीं, उसे कैसे दूर करेगा? इसीलिये निमित्त, विकार और भेद का लक्ष्य छोड़कर ध्रुवस्वभाव में दृष्टि करें तो रागादि उत्पन्न ही नहीं होते। इसका नाम पृथक्करण है।

आत्मा में वर्तमान एकसमय मात्र नया विकार; वह स्वकाल की योग्यता से ही होता है, किन्तु कर्म अथवा ईश्वर आदि उसका करानेवाला नहीं है। यदि विकार पर से हो तो वह दूर नहीं हो सकता। दर्शनमोह अथवा चारित्रमोह कर्म से मिथ्यात्व, रागादि की अस्ति नहीं है और उसके अभाव से जीव में धर्म की अस्ति नहीं है, अपितु सभी अपने स्वकाल की योग्यता के कारण से स्वपने हैं, परपने नहीं। इसीलिये संसारदशा में विभाव स्वभावरूप क्रिया जीव के स्वकाल में अपने अपराध से होती है; इससे संसार फलता है, किन्तु ज्ञाता-द्रष्टा चिदानंद हूँ ऐसी दृष्टि करे तो अंश का स्वामित्व और निमित्ताधीन दृष्टिरूप मिथ्यात्व दूर होकर वीतरागी दृष्टि और चारित्र प्रगट होता है और वह संसार के लिए अफल है।

लकड़ी उसके स्व-चतुष्टय से ऊँची हुई है। अज्ञानी उसके स्वभाव को नहीं देखता, संयोग को देखता है, यह उसका भ्रम है। इच्छा के कारण वाणी बोली जाती है ऐसा माने, परन्तु भाषा वर्गणा का स्वकाल उन परमाणुओं के कारण है, किन्तु पर से असत् है और इच्छा जीव की स्वकाल में सत् पर्याय है, यह भी पर से नहीं हुई ऐसा जिसने नहीं माना, उसने वस्तु की स्वतंत्रता ही नहीं मानी।

प्रत्येक वस्तु अपने वर्तमान स्वकाल से परिणमित हुआ करती है, किन्तु किसी समय वर्तमान में वर्तना छोड़कर भूत-भविष्य काल में वह नहीं वर्तती। अज्ञानी स्वभाव को भूलकर संयोग को देखता है।

प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव स्व-चतुष्टय से है। विभाव भी जीव का पर्याय स्वभाव है, जो अन्य के द्वारा नहीं हुआ है; इसप्रकार वर्तमान पर्याय और त्रिकाली स्वरूप को स्वतंत्र जानकर पर्याय में अपने अपराध से किया जानेवाला क्षणिक विकार नित्य ज्ञायक में नहीं है। ऐसा माने तो सम्यग्दर्शन होता है, दया-दान के शुभराग से धर्म माननेवाले को बाह्यदृष्टि छोड़कर अंदर पूर्णस्वभाव है, उसे देखने को प्रतीति करने का अवसर नहीं रहता। वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा सर्वज्ञ ने जाना है। अनंत ज्ञानी भी ऐसा ही जानकर कहते हैं। पर के ग्रहण-त्याग करने की शक्ति जीव में किसी भी प्रकार से नहीं है; क्योंकि स्व से सत् और पर से असत् यह वस्तुस्थिति की त्रैकालिक स्वाधीनता है। विभाव परिणाम विपरीत पुरुषार्थ द्वारा स्वतंत्र कर्ता-करण आदि छह कारकोंरूप परिणमित होकर जीव स्वयं करता है, वह दूसरे कारकों की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा गाथा बासठ की टीका में कहा है और वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है।

चारों अनुयोगों के शास्त्रों में कहने की अपेक्षा अलग होती है, किन्तु उनका प्रयोजन एक ही होता है। व्यवहार से पर का कर्ता है और निश्चय से स्वयं का कर्ता है। इसप्रकार दो प्रकार का आत्मा नहीं है। एक उपचार कथन है। वह उपादान में कार्य होने पर निमित्त कैसा होता है, यह बताने के लिए है और दूसरे निश्चयनय का कथन सत्यार्थ है। ऐसा जानकर वह स्वीकार करने के लिए है। निगोद-अवस्था में जिसने कर्म का जोर (शक्ति) माना, उसने तीनों काल में पर का जोर माना। गोम्मटसार में कहा है कि प्रचुर भावकलंकरूप अपने अपराध से जीव निगोदवास को नहीं छोड़ता। एक समय भी कर्म के प्रमाण में जीव को कषाय होती है यह बात झूठी है।

टीका पर प्रवचन

इस विश्व में अनादि कर्मोपाधि के सद्भाव का आश्रय करने के द्वारा (पर आश्रय नहीं देता, किन्तु स्व को छोड़कर जीव स्वयं पर का आश्रय करता है) प्रतिक्षण विभाव वर्तता है। ऐसे संसारी जीव को अशुद्ध परिणामरूप क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पंद है, इसमें दूसरा कोई कर्म प्रेरणा नहीं कराता, स्वतंत्ररूप से स्वयं नया-नया विकार खड़ा करता है। पर के कारण तो नहीं, किन्तु पूर्व पर्याय के कारण भी नहीं। पहले बहुत काल पापभाव किया; इसीलिए वर्तमान में पाप नहीं करता है, किन्तु समय-समय वर्तमान स्वयं की योग्यता से जैसा भाव करता है, वैसा होता है। चार गति का कारण शुभाशुभ राग है, जो मेरी भूल का कार्य है, त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप में यह क्षणिक विकार नहीं है; इसप्रकार स्वतंत्रता स्वीकार किये बिना परमधर्म का कारण जो द्रव्यस्वभाव है, उसमें कार्य नहीं हो सकता।

इस विश्व में द्रव्य-गुण-पर्याय ये तीन होकर अखंड ज्ञेय है। इसमें संसारी जीव को स्वयं के अपराध से पर के आश्रयरूप विभाव वर्तता है। स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता और कर्म का उदय है, इसीलिए विकार है। ऐसा भी नहीं है। स्वयं विकार करे तो निमित्त को आरोप से कारण कहा जाता है; किन्तु पर से विकार माने, उसे वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता का भान नहीं है, तो फिर उसे त्रिकाली द्रव्य-गुण की जो शुद्ध है, उसकी प्रतीति कहाँ से आएगी? जड़ की अवस्था है तो चेतन की अवस्था है। यदि ऐसा हो तो एक के स्वचतुष्टय में दूसरे के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अत्यंत अभाव है, यह बात कहाँ रही? इसीलिए जीव में विभाव का कारण उस समय की योग्यता है, वहाँ निमित्त होता है; पर उसने उपादान में कुछ भी नहीं कराया है।

प्रश्न : निमित्त को कारण क्यों कहा है?

उत्तर : स्व आश्रय करें तो विकार नहीं होता, किन्तु पराश्रय करें तो जो निमित्त होते हैं, उसमें उपचार आता है। ऐसी योग्यता है, निमित्त कुछ

आश्रय नहीं देता। जैसे हाथ गति करता है तो धर्मास्तिकाय को उसकी निमित्तता का आरोप आता है। स्थिति करे तो अधर्मास्तिकाय पर आरोप आता है, उसमें स्थिति के समय निमित्त होने की योग्यता है।

प्रश्न : निमित्त क्या है?

उत्तर : जब उपादान स्वयं कार्य करे, तब सहकारी अर्थात् साथ में रहनेवाले संयोग की उपस्थिति को निमित्त कहते हैं। सभी निमित्तों को धर्मास्तिकायवत् कहा है। शास्त्र पढ़नेवाले सीधे-सीधे तो निमित्त से कर्त्ता-कर्मपना नहीं मानते, किन्तु निमित्त आये तो कार्य होता है और नहीं आये तो न हो। ऐसा माने तो वहाँ भी कर्त्ता-कर्मपना उनके आशय (अभिप्राय) में पड़ा है और यही निमित्त-नैमित्तिक में मूल में भूल है। कथन का नियम तो संयोग बताने के लिए है, किन्तु उनसे उपादान में कार्य होता है यह नहीं बताना है।

प्रश्न : अस्तित्व मात्र से ही निमित्तपना कहोगे तो उसकी योग्यता क्या रही?

उत्तर : गति निमित्तता धर्मास्तिकाय में ही है, दूसरे में नहीं, यही उसका अर्थ है। निमित्त मिले तो कार्य हो। यह तो पराधीन दृष्टि है और यही मूल में भूल है।

जिस-जिस समय में स्वकालरूप योग्यता से जो पर्याय होने योग्य होती है, वही क्रमबद्ध होती है, इधर-उधर नहीं होती। क्रमबद्धपर्याय का कारण द्रव्य है। तीनों काल की पर्याय का प्रवाहक्रम द्रव्य में है। वह आगे-पीछे होती है या निमित्त न आये तो पर्याय रुक जाये। ऐसा माने तो वस्तु की स्वतंत्रता नहीं रहेगी।

प्रश्न : हम निमित्त कारण को कर्त्ता नहीं मानते, किन्तु निमित्त होना चाहिए। ऐसा तो मानना चाहिए?

उत्तर : निमित्त आये तो कार्य होगा और नहीं आये तो नहीं होगा, यह निमित्ताधीन दृष्टि का जोर ही कर्त्ता-कर्म के अर्थ में जाता है। निमित्त की राह देखनी पड़े; यदि निमित्त आये तो उपादान में कार्य होगा। यदि

ऐसा हो तो उपादान की स्वकाल की योग्यता का नियम नहीं रहा।

कर्म का उदय उसके क्रम में उदय में आये और उसमें जीव जुड़े अर्थात् राग करे तो उस उदय पर निमित्त का आरोप किया जाता है, परन्तु सत्ता में पड़े हुए कर्म पर निमित्त का आरोप किया जाये। ऐसी योग्यता नहीं है, इसीलिए उसे निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त-नैमित्तिक संबंध का काल एक ही समय का होने से छद्मस्थ उसे पकड़ नहीं सकता, यह केवलज्ञान गम्य है, अल्पज्ञानी उसकी प्रतीति कर सकता है।

संसारी जीव को विकारी क्रिया वास्तव में स्वभाव ही है। यह स्वयं से ही प्राप्त हुई है, पर से नहीं। निश्चयकारण कार्यरूप हो तो दूसरे को व्यवहारकारण कहा जाता है, अनारोप हो तो आरोप दिया जा सकता है।

यहाँ जीव की विकारी अवस्था भी निश्चय स्वज्ञेय है, सामने कर्म का उदय उनकी (पुद्गल) निश्चय पर्यायरूप ज्ञेय है। दोनों में परस्पर अत्यंत अभाव है। यदि निमित्त उपादान में कुछ करे तो वही उपादान हो गया, वे पृथक् नहीं रहे।

कर्म के स्व-चतुष्टय कर्म में हैं। उनका उदय, वह उनका निश्चय स्वकाल है। यहाँ जीव की विभाव पर्याय स्व-योग्यतानुसार स्वकाल में हुई, तब निमित्त उसके कारण उपस्थित होता है। यहाँ तो समय-समय में दोनों द्रव्य पृथक् रह कर अपनी-अपनी योग्यता से परिणमित होते हैं।

यदि निमित्त हो तो उपादान में कार्य होगा तो फिर सभी का निमित्त के अनुसार कार्य होना चाहिए, किन्तु ऐसा तो नहीं होता। निमित्त का कार्य किसी और ने किया तो निमित्त का निश्चय स्वकाल स्वतंत्र पृथक् नहीं रहा और उपादान कार्य निमित्त ने किया तो वह वस्तु का वर्तमान नहीं रहा। दोनों का अभावरूप दोष आया। यदि एक समय भी वस्तु का वर्तमान स्वतंत्र नहीं रहा तो तीनों काल की स्वतंत्रता नहीं रही। परनिमित्त आये तो परिणमन हो। ऐसा जिसने माना, उसे अपनी पर्याय का स्वकाल देखना नहीं रहा। वर्तमान पराधीन पर्याय दृष्टिवाले को त्रिकाली द्रव्य-गुण शुद्ध है। ऐसा देखने का अवसर भी नहीं रहा।

पर्याय प्रत्येक समय नई-नई हुआ करती है तो फिर उस पर्याय में इस निमित्त को मिलायें? कौन किसे लावे? एक वस्तु में दूसरी का अभाव है, वहाँ कौन स्पर्श करे? एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श भी नहीं करता हो, फिर एक के कारण दूसरे में कार्य होता है ऐसा मानना भ्रम है।

जीव को विकार होता है, वह वास्तव में जीव की स्वकालरूप योग्यता से होता है। उस पारिणामिकभाव की पर्याय ही अहेतुक विकाररूप अटकती है; इसप्रकार प्रथम अशुद्धता को भी अहेतुक निरपेक्ष पर्याय सत्स्वरूप सिद्ध करने के पश्चात् दूसरा जो आरोपित कारण होता है, वह निमित्त कहलाता है। दोनों की योग्यता स्वतंत्र स्वकाल में सत् है। संयोग के आश्रय से जीव विकार करता है, इसका फल चार गति है। जिस भाव से बंधन होता है, उससे धर्म नहीं होता; इसीलिए निमित्त-विकार की रुचि छोड़कर मैं त्रिकाल ज्ञानानंद शुद्ध हूँ, उसकी अभेद रुचि और स्थिरता करना धर्म है। यहाँ तो समय-समय का विकार स्वतंत्र सिद्ध करना है कि वह स्वयं की योग्यता से होता है और उसका फल धर्म नहीं, किन्तु चार गति है।

दया, दान, व्रत आदि पुण्यास्रव है; हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप-आस्रव है। वीतरागी श्रद्धा-चारित्र संवर और निर्जरा है, पूर्ण वीतरागी पर्याय मोक्षतत्त्व है। जितनी शुद्धि की वृद्धि हुई, वह भाव निर्जरा है और स्वभाव के आश्रय से पूर्ण शक्ति मोक्ष है। पुण्य-पाप बंधन के आश्रय से संवर-निर्जरा नहीं होती। पूर्व की पर्याय, वर्तमान निर्मल पर्याय तथा गुणभेद के आश्रय से संवर-निर्जरा पर्याय नहीं होती।

प्रश्न : संवर के कारणों में गुप्ति-समिति आदि आती है न?

उत्तर : वीतराग चारित्र होता है तो बीच में शुभराग और उसमें निमित्त कैसे होते हैं, उनको बताते हैं। निश्चय धर्म प्रगट हुए बिना व्यवहार किसका? पर्याय से पर्याय नहीं होती है। निमित्त हो तो कार्य होता है, नहीं हो तो नहीं होता ऐसा जो मानता है, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

शरीर साढ़े तीन हाथ का हो अथवा पाँच सौ धनुष का हो, यह

व्यंजन पर्याय है। क्षेत्र के साथ धर्म का संबंध नहीं है, अपितु अपने गुणरूप अर्थ पर्याय के साथ ही धर्म-अधर्म का संबंध है। उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव के आश्रय से धर्म प्रगट नहीं होता, किन्तु पारिणामिक स्वभाव भाव के आश्रय से ही शुद्धि का उत्पन्न होना, बढ़ना और टिकना होता है।

जितना राग, उतनी स्वरूप में असावधानी है और भगवान आत्मा में जितनी सावधानी है, उतना धर्म है और उससे च्युत होकर जितना बहिर्मुख है, उतना मोह के साथ मिला हुआ राग-द्वेषमय परिणाम है। वह जीव का वर्तमान पर्याय स्वभाव है। जिस भाव से १४८ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं, वे सभी विकार हैं। धर्म से बंधन नहीं होता।

जिसप्रकार दूसरे अणु के साथ जुड़े हुए किसी अणु की परिणति दो अणु के बने हुए स्कंधरूप कार्य को उत्पन्न करनेवाली है; उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में स्व को छोड़कर परभावरूप मोह के साथ मिले हुए ऐसे आत्मा को राग की उत्पत्ति होती है और वह मनुष्य आदि कार्य को उत्पन्न करनेवाली होने से सफल ही है।

जब तक आत्मा मिथ्याभ्रान्ति के कारण भ्रम, राग और द्वेष से जुड़ा है, तब तक नई-नई गति हुआ करती है अर्थात् संसार चालू रहता है, किन्तु जिसतरह एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् हो जाये तो उस अकेले परमाणु की स्कंधरूप बनने की अथवा स्कंध उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती; उसीप्रकार मोह का नाश होने पर, परम धर्म प्रगट होता है और वह मनुष्यगति उत्पन्न करनेवाला नहीं होने से संसार के लिए अफल है अर्थात् धर्मरूपी क्रिया से संसार नहीं फलता।

यहाँ मोह के साथ मिलन का नाश होने पर वही क्रिया... ऐसा वाक्य है। आत्मा मोह के साथ जुड़ा हुआ था और पश्चात् मोह का नाश हुआ हो ऐसा नहीं है, अपितु स्वयं ज्ञाता-द्रष्टा साक्षी स्वरूप चैतन्यमूर्ति का आश्रय करके मोह की उत्पत्ति होने नहीं दी इस कार्य को मोह के साथ मिलन का नाश किया ऐसा कथन करने में आता है।

जब तक जीव का लक्ष्य निमित्त अथवा अंश की एकत्वबुद्धि सहित है, तब तक जीव का मोह के साथ मिलन है, यह मोह की क्रिया है। यह अरूपी उदयभाव है। उदयभाव जड़ का नहीं है, जड़ के कारण नहीं है तथा जड़ में नहीं है। जीव अपनी पर्याय में, अपने अपराध से स्वयं उदयभाव करता है और यह मोह की क्रिया चार गति के संसार के लिए सफल है अर्थात् उससे चार गतियाँ मिलती हैं।

निमित्ताधीन दृष्टि से अथवा विकल्प से वीतरागता की पर्याय नहीं आती। सम्यग्दर्शन अथवा वीतरागता बाहर से नहीं आती।

(१) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र जो कि निमित्त हैं, उनके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन अथवा धर्म की क्रिया नहीं होती; क्योंकि वे परद्रव्य हैं और उनके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध एक समय का है।

(२) दया, दान, पूजा के शुभभाव औदयिक भाव हैं, जो अपनी एक समय की विकारी पर्याय हैं। उनके आश्रय से धर्म की क्रिया नहीं होती, क्योंकि वे एक समय की विकारी पर्याय हैं।

(३) कषाय की मंदता के अनुसार ज्ञान के उघाड़रूप मति-श्रुतज्ञान के आश्रय से धर्म की क्रिया नहीं होती; क्योंकि वह भी एक समय की पर्याय है, अंश है और अंश के लक्ष्य से धर्म नहीं होता।

ऊपर कहे हुए कारणों के लक्ष्य से मोह के साथ मिलन होता है और चार गति का फल मिलता है। अतः मोह-मिलन का नाश किसतरह होता है यह बताते हैं।

(४) स्वयं ध्रुव ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है। स्वभाव की रुचि होने पर और निमित्त की विकल्प अथवा पुण्य की ओर उघाड़ (प्रगटता) की रुचि दूर हो जाने पर अपने में से धर्म की क्रिया प्रगट होती है अर्थात् मोह के साथ मिलन का नाश हुआ ऐसा कहा जाता है।

द्रव्य और गुण शुद्ध होने पर भी अज्ञानी को एक समय की पर्याय का मोह है और वह उसका आश्रय करता है, शुद्धात्मा की रुचि का जोर बढ़ने पर पहिले जो मिथ्या अभिप्राय से अपने को अंश मात्र मानता था, वह

अब स्वभाव की तरफ झुका और मोह का नाश हुआ दोनों का एक ही समय है।

जो अभिप्राय अपने को वर्तमान अंश मात्र मानकर अंशदृष्टि करके सम्पूर्ण अंशी का अनादर करता था, वह अभिप्राय बदल जाने पर सम्पूर्ण अंशी की रुचि करने पर अंश और निमित्त की रुचि छूट जाती है।

अपने ज्ञानस्वभाव की तरफ झुका अर्थात् मोह के साथ मिलन का नाश किया ऐसा कहा जाता है और यह ज्ञानक्रिया गति की निष्पादक नहीं है अर्थात् गति को उत्पन्न नहीं करती।

वीतरागी दशा प्रगट हुई अर्थात् मोह का नाश हुआ ऐसा कहा है। सातवीं गाथा में कहा है कि चारित्र है, वही धर्म है। चारित्र अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा के भानसहित आनन्दकंद स्वभाव में रमना-ठहरना। अरागी-वीतरागी दशा प्रगट हुई, वह चारित्र है। शुभभाव अथवा पंच महाव्रत अथवा शरीर की नग्न-दशा चारित्र नहीं है।

उस चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है। **दंसण मूलो धम्मो** धर्म का मूल दर्शन है अर्थात् चारित्र का मूल दर्शन है। सम्यग्दर्शन साक्षात् धर्म नहीं, अपितु धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन का मूल चारित्र नहीं, अपितु चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना सच्चा चारित्र नहीं हो सकता।

मोह का नाश करना ऐसा भी कथन आता है; सो मोह का नाश किसतरह करना? क्या स्त्री-पुत्र को छोड़ देना? अथवा संसार जो उदयभाव वर्तमान में हो रहा है, उसका नाश करना?

स्त्री-पुत्र तो पर है, इसीलिए उसे ग्रहण अथवा छोड़ नहीं सकता। उदयभाव जिस समय होता है, उस समय तो वह होने वाला पदार्थ है, उसके होने पर भी उसका नाश करना है ऐसा मानना मिथ्यात्व है; किन्तु स्वयं ध्रुव चैतन्य स्वभावी आत्मा है ऐसी दृष्टि होने पर सम्यक्त्व तथा वीतरागी पर्याय का उत्पाद होता है, उसे मिथ्यादर्शन उत्पन्न नहीं होता और अव्रत के भाव उत्पन्न ही नहीं होते; अतः उसने राग का नाश किया

ऐसा कहा जाता है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति, शास्त्र का निमित्त, शुभ विकल्प अथवा पर-लक्ष्यी ज्ञान के उघाड़ के आश्रय से नहीं होती, अपितु ज्ञाता-द्रष्टा शुद्ध स्वभाव के आश्रय से होती है। शास्त्र तो अजीव है; सर्वज्ञ देव भी इस जीव की अपेक्षा अन्य जीव है। सर्वज्ञ इस जीव अपेक्षा अद्रव्य है, अक्षेत्र है, अकाल है, अभाव है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इस जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में नहीं।

अन्य जीव, यह जीव नहीं है, पुण्य का विकल्प यह जीव नहीं है, क्षायोपशमिक भाव यह जीव नहीं है, संवर तत्त्व भी एक समय की अवस्था है, उसका भी व्यय होता है; इसीलिए वह जीव तत्त्व नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा अनादि-अनंत ध्रुव स्वभाव एक ही यह जीव है।

गाथा में राग-द्वेष को स्वभाव निष्पन्न कहा है; क्योंकि वे स्वयं से उत्पन्न हुए हैं। निमित्त से राग नहीं हुआ है, कर्म के उदय से भी वह नहीं हुआ है; अज्ञानी को मिथ्यात्व के कारण राग हुआ है और ज्ञानी को अपनी अस्थिरता के कारण राग हुआ है। स्वयं किया है, इसीलिए उसे स्वभाव कहा है।

धर्म की पर्याय को परम स्वभावभूत कहा है। राग की पर्याय में भूत शब्द का प्रयोग नहीं किया; क्योंकि राग अपनी अवस्था में होने पर भी राग अपने त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। राग वस्तुस्वभाव में नहीं है, वह राग पर में रुकने पर हुआ है; जबकि धर्म की पर्याय तो स्वभाव के साथ अभेद है, स्वभाव के आश्रय से होती है इसीलिए स्वभावभूत कही है।

अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव के साथ अभेद होकर जो अविकारी शांत दशा प्रगट हुई; वह परम धर्म कहलाती है और यह मुक्ति का कारण है। इस क्रिया के उत्पन्न होने से भव नहीं रहता; इसकारण वह गति की निष्पादक नहीं है, संसार का फल नहीं देती; इसीलिए उसे अफल कहा है।

यहाँ तो दोनों ज्ञेयों का ज्ञान कराया है। द्रव्य-गुण को समझे बिना मिथ्यात्व और राग में अटकती पर्यायवाली मोह-मिलनवाली दशा

जो संसार के लिए सफल है, वह एक ज्ञेय है। और दूसरा, द्रव्य-गुण शुद्ध है ऐसी यथार्थ दृष्टि करके ज्ञातास्वभाव में अभेद हुई दशा जो संसार के लिए अफल है, वह एक ज्ञेय है।

इसतरह दोनों क्रिया को ज्ञेयरूप से बताकर ज्ञान कराया है।

स्वज्ञेय अखण्ड चैतन्य धातु है, उसकी विधि को जाने बिना धर्म नहीं होता। अज्ञानी की दृष्टि निमित्त, संयोग, अंश, विकार की तरफ जाती है और उसे अंश की महिमा आती है; किन्तु स्वभाव की नहीं आती, जबकि ज्ञानी को प्रत्येक समय स्वभाव की महिमा आती है, निमित्त तथा अंश की महिमा नहीं आती।

शास्त्र में निमित्त के कथन बहुत प्रकार से आते हैं, किन्तु उनका भाव समझना चाहिए। वाणी की रचना मुनि ने नहीं की; वाणी, वाणी के कारण आती है। मुनि को शुभ विकल्प आता है, किन्तु वे विकल्प के स्वामी नहीं होते। स्वभाव सन्मुख वीतरागी मुनि छठवीं-सातवीं भूमिका (गुणस्थान) में झूलते हैं।

श्री समयसार की छठवीं गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं अप्रमत्त भी नहीं तथा प्रमत्त भी नहीं, मैं तो एक ज्ञायक भाव हूँ। वहाँ संयमी अथवा असंयमी, अकषायी अथवा सकषायी, अयोगी अथवा सयोगी नहीं ऐसा नहीं कहा, अपितु अप्रमत्त अथवा प्रमत्त नहीं ऐसा कहा है। यहाँ अप्रमत्त और प्रमत्त शब्द क्यों लिया है? प्रयोजन के बिना शब्द हो ही नहीं सकते। स्वयं की वर्तमान पर्याय प्रमत्त-अप्रमत्तरूप वर्तती है। भावलिंगी मुनिदशा वर्तती है; फिर भी उनकी इस साधक दशा के ऊपर दृष्टि नहीं है, अपितु दृष्टि तो एक ज्ञायकस्वभाव को ही स्वीकार करती है। परमधर्म-चारित्र चार गति का कारण नहीं है ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं; जो विकल्प है, उससे स्वर्गादि होंगे, किन्तु उनके ऊपर दृष्टि नहीं है।

साधक को अखंड ज्ञानप्रमाण है, किन्तु परिपूर्ण प्रगट ज्ञान नहीं। आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी है ऐसे निश्चय का ज्ञान होने के पश्चात्

व्यवहार और निमित्त का ज्ञान कराते हैं, किन्तु व्यवहार ज्ञेय के आश्रय से धर्म नहीं है। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान करना, किन्तु आश्रय तो निश्चय का ही करना चाहिए।

विकल्प और निमित्त से लाभ मानो तो निमित्त और व्यवहार को माना कहलायेगा। ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु यह उसकी भूल है। निमित्त से लाभ मानने से व्यवहार भी नहीं रहता और निश्चय भी नहीं रहता। निश्चय का ज्ञान होने के पश्चात् जो वृत्ति उठती है, उसका ज्ञान करना व्यवहार है।

वीतरागी मुनि को छठवें गुणस्थान में अठाईस मूलगुणों को पालन करने का विकल्प उठता है। यह विकल्प तो राग है, धर्म नहीं। इस विकल्प से कहीं छठवाँ गुणस्थान टिका नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव की प्रतीति की, लीनता की, कषाय का अभाव किया है; इसी से वह गुणस्थान टिका है तथा छठवें गुणस्थान में उस भूमिका के योग्य विकल्प आता है।

पाँच महाव्रतादि का पालन बाह्य नग्न-दिगम्बर दशा का ही विकल्प होता है। इससे विरुद्ध वस्त्रसहित मुनिपना हो ही नहीं सकता; फिर भी ऐसा शुद्ध व्यवहार भी छठवाँ गुणस्थान नहीं है, अपितु अंतरंग वीतरागी दशा छठवाँ गुणस्थान है।

मुनि को अंतरंग में ध्रुवस्वभाव का जोर वर्तता है, इसी से प्रमत्त दशा में आसक्ति तीव्र नहीं होती। किसी विकल्प की तीव्रता अथवा मंदता में अंतर पड़े और उसके कारण अमुक विधि न हो अथवा शरीर की अवस्था में कमजोरी हो, तब शरीर पड़ा रहे और अमुक विधि न दिखाई दे, किन्तु ये सब उनकी भूमिका अनुसार ही होता है। पाँचवें गुणस्थान के समान उनको परिग्रह का विकल्प आता ही नहीं अर्थात् ध्रुवस्वभाव का जोर वर्तता है।

श्रावक ने निर्दोष आहार बनाया हो, किन्तु यदि मुनि को शंका हो जाये कि यह सदोष है तो वे आहार का विकल्प तोड़ देते हैं और आहार नहीं लेते; यदि फिर भी आहार लें तो दोष लगता है।

जिसे ऐसी अंतरंग दशा प्रगट होती है; उसे गति नहीं फलती अर्थात् वह संसार के लिए अफल है।

ज्ञानस्वभावी क्रिया मोह रहित होने के कारण गति के फल को उत्पन्न नहीं करती अर्थात् संसार नहीं फलता और दर्शनमोह सहित क्रिया चार गति का फल देती है। मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते, अपितु अनेक प्रकार के होते हैं; इसकारण उनके फलरूप मनुष्यगति, देवगति आदि पर्यायों टंकोत्कीर्ण शाश्वत एकरूप नहीं होती, अपितु अनेकरूप होती हैं, मोक्षगति टंकोत्कीर्ण शाश्वत एकरूप है। जबकि संसारी गतियाँ देव, मनुष्य, तिर्यच, नारकी आदि एकरूप नहीं, अपितु अनेकरूप है।

परिवर्तन का स्वरूप भी तो हमारे पक्ष में ही है। अनन्त-दुखरूप संसार का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष तो प्रकट होता है; पर मोक्ष का अभाव होकर फिर संसार-अवस्था प्रकट नहीं होती। अनन्तदुःख विनाशीक है और अनन्तसुख अविनाशी है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ?

पर्यायों और संयोगों को स्थिर रखने का विकल्प निरर्थक तो है ही, अविचारितरमणीय भी है। यदि लौकिकदृष्टि से विचार करें, तब भी मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जबकि अमरता एक काल्पनिक उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं है; क्योंकि भूतकाल में हुए अगणित वीरों में से आज कोई भी तो दिखाई नहीं देता। यदि किसी को सशरीर अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे बीच अवश्य होते।

बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२८-२९

प्रवचनसार गाथा ११७

अब, यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों जीव को क्रिया के फल हैं :

**कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७ ॥**
(हरिगीत)

नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को ।

नर नारकी तिर्यच सुर पर्याय में दाखिल करे ॥११७॥

अन्वयार्थ : [अथ] वहाँ [नामसमाख्यं कर्म] 'नाम' संज्ञा वाला कर्म [स्वभावेन] अपने स्वभाव से [आत्मनः स्वभावम् अभिभूय] जीव के स्वभाव का पराभव करके, [नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं] मनुष्य, तिर्यच, नारक अथवा देव (इन पर्यायों को) [करोति] करता है ।

टीका : क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है, (अर्थात् आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है पहुँचता है इसलिये वास्तव में क्रिया ही आत्मा का कर्म है । उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ (द्रव्यकर्मरूप से परिणमन करता हुआ) पुद्गल भी कर्म है । उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं; क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों को कर्मपने का अभाव होने से (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों का अभाव होता है ।

वहाँ, वे मनुष्यादिपर्यायों कर्म के कार्य कैसे हैं? (सो कहते हैं कि) वे कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाती हैं, इसलिये दीपक की भाँति । वह इस प्रकार : जैसे 'ज्योति (लौ) के

१. ज्योति = ज्योत, अग्नि ।

स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसीप्रकार कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादिपर्यायों कर्म के कार्य हैं ।

भावार्थ : मनुष्यादिपर्यायों ११६वीं गाथा में कही गई राग-द्वेषमय क्रिया के फल हैं; क्योंकि उस क्रिया से कर्मबन्ध होता है और कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादि पर्यायों को उत्पन्न करते हैं ।

गाथा ११७ पर प्रवचन

जीव स्वयं की योग्यता से अपने शांतस्वभाव का घात करता है, तब ऐसा कहा जाता है कि नामकर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है ।

आत्मा स्वयं के अज्ञान के कारण राग-द्वेषरूप परिणमित होता है । दया-दान पूजा के भाव और काम क्रोध आदि के भाव आत्मा स्वयं करता है, जड़ उसे नहीं कराता; इसीलिए वहाँ वास्तव में शब्द का प्रयोग किया गया है । आत्मा स्वयं कर्ता है; इसीलिए आत्मा द्वारा प्राप्य होने से वह आत्मा का कर्म है । शुभाशुभभाव कर्म द्वारा प्राप्य नहीं, अपितु आत्मा से प्राप्य है और विकारीभाव आत्मा का कार्य है, जड़ का नहीं ।

आत्मा स्वयं शुभाशुभभावों को प्राप्त होता है । यहाँ ज्ञेय स्वतंत्र सिद्ध करना है । विकार का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वयं के उपादान के कारण जड़ कर्मरूप परिणमित होते हैं, यह जड़ का कार्य है । आत्मा के विकारी कार्य का और जड़ के कर्मरूपी कार्य का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न हैं ।

जड़कर्म का फल चारगतिरूप संसार है । संसार की चार गतियों का मूल कारण तो 'पुण्य-पाप मेरे हैं' ऐसा अज्ञान भाव ही है । जितने प्रमाण में जीव मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम करता है, उतने प्रमाण (परिमाण) में जड़कर्म स्वयं उनके कारण से बंधते हैं और उनके प्रमाण में गति जाति आदि प्रकृतियाँ भी बंधती हैं ।

निगोद के जीव मनरहित हैं; इसीलिए उन्हें प्रचुर कर्म का जोर है ऐसा नहीं है । अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को छोड़कर वह जीव विपरीत

परिणमित होता है और मोह की क्रिया करता है। इसका निमित्त पाकर जड़-कर्म स्वयं के कारण बँधते हैं और उसके फल में अज्ञान के कारण निगोद-गति मिलती है। आत्मा में निगोद की योग्यता है। यहाँ मन का प्रश्न ही नहीं है। सिद्ध भगवान को भी मन नहीं है, फिर भी वे तो अनंत आनंद का भोग कर रहे हैं।

संपूर्ण ज्ञान सिद्धदशा का कारण है और तीव्र-अज्ञान निगोद-दशा का कारण है।

जो जीव अनादिकाल से निगोद में हैं, वे अपने अज्ञानभाव के कारण हैं, किन्तु कर्म के कारण नहीं। जीव स्वयं अज्ञानभाव करता है तो कर्म से अज्ञानभाव हुआ ऐसा आरोप मात्र दिया जाता है।

पुद्गल कर्म के कार्यभूत मनुष्य, तिर्यच आदि पर्यायें मिलती हैं? उनका मूल कारण तो जीव का अज्ञानभाव और राग-द्वेष ही है, इसीलिए मोह-राग-द्वेष रूप क्रिया का फल चार गति है। जब आत्मा स्वयं मोह-राग-द्वेष क्रिया नहीं करता, तब पुद्गल कर्म स्वयं अपने कारण कर्मरूप परिणमित नहीं होते और पुद्गल कर्मों का अभाव है; वहाँ मनुष्य, तिर्यच आदि अवस्था का भी अभाव होता है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि उनका एक-दूसरे में अत्यंत अभाव वर्तता है।

समवशरण में चूहा और सर्प बैर भूल जाते हैं। केवली भगवान के पुण्य-प्रभाव से वे बैर नहीं भूलते, अपितु वे जीव अपनी योग्यता से बैर भूल जाते हैं। भगवान को परिपूर्ण अहिंसा प्रगट हुई है, इसीलिए चूहा और सर्प को बैर का त्याग करके शांति का भाव प्रगट हुआ है। ऐसा नहीं है; क्योंकि सुकौशल मुनि को बाघनी फाड़कर खा जाती है, जबकि मुनि को तो अंतरंग में निश्चय अहिंसा वर्तती है, वे ज्ञानस्वभाव में रह रहे हैं और बाह्य में अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं। ऐसे अहिंसावादी का असर उन प्राणियों के ऊपर क्यों नहीं पड़ा? इसीलिए सभी स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार भाव करते हैं।

अज्ञानी जीव परपदार्थ से लाभ-नुकसान मानकर अपनी पर्याय में बैर को बनाये रखता है। तेल में साग तलते समय कितने ही जीव एक साथ मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे जीव निमित्त के कारण नहीं मरे हैं; अपितु सभी की देह छूटने की योग्यता ही ऐसी है। प्रत्येक की पर्याय स्वतंत्र है, वहाँ परवस्तु की उपस्थिति मात्र है।

उपादान में काम होता है; इसीलिए दूसरी वस्तु को खींचकर (जबरदस्ती) उपस्थित होना पड़े ऐसा नहीं है। सभी मिलकर एक परमब्रह्म है तथा विकारी पर्याय होती ही नहीं, जड़-कर्म संसार-दशा में होता ही नहीं तथा मनुष्य आदि गति है ही नहीं। ऐसे माननेवाले अज्ञानी जीव को कहा जाता है कि जीव को संसार-दशा में मिथ्यात्व, राग-द्वेष, विकारी अवस्थायें हैं, इनका निमित्त पाकर जड़-कर्म एक क्षेत्र अवगाह संबंध बँधता है। उनके फलरूप चार गतियाँ हैं। अनित्यता भी पर्याय का विद्यमान स्वभाव है, आत्मा ध्रुव तथा परिणमन स्वभाववाला है। सर्वथा ध्रुव या सर्वथा परिणामी भी नहीं।

परिणाम के अनुसार चारगति व्यवहार से है, ऐसा जो जीव स्वीकार नहीं करते, वे गतिरहित मोक्षदशा को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि वर्तमान में विकार नहीं है। ऐसा माना जाये तो वर्तमान में प्रगट आनंद होना चाहिए और वर्तमान में आनंद और सुख व्यक्त नहीं है तो वह राग-द्वेष पर्याय में वर्तता है। ऐसा निश्चित होता है।

पर्याय में अशुद्धता स्वयं के कारण है। यह बात सही है और वह दुःखदायक है। यदि ध्रुवस्वभाव दुःखदायक हो तो आकुलता आत्मा का त्रिकाली स्वभाव हो जायेगा और आकुलता मिटकर कभी भी निराकुलता नहीं होगी।

(१) ध्रुव त्रिकाली स्वभाव शुद्ध, आनंद और सुखमय है,

(२) किन्तु स्वयं के अज्ञान तथा अस्थिरता के कारण अवस्था में राग-द्वेष हैं।

(३) उनका निमित्त पाकर जड़-कर्म स्वयं अपने कारण बँधते हैं,

(४) उनके फल में चार गतियाँ मिलती हैं।

नरक में जीव दुःखी हो रहा है। वह क्षेत्र के कारण दुःखी नहीं है, अपितु स्वयं के अज्ञान के कारण दुःखी है। अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर परपदार्थ मेरे हैं ऐसे मोह-भाव का उन्हें दुःख है। प्रतिकूल संयोगों का वियोग सुख का कारण नहीं है। यह वस्तुस्वभाव है, सर्वज्ञ से सिद्ध है। अज्ञानी को वस्तुस्थिति का भान नहीं होता। श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि

ते ते भोग्य विशेषना, स्थानक द्रव्य स्वभाव।

गहन बात छे शिष्य आ, कही संक्षेपेसाव।।

जो-जो भोगने योग्य भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थान (निमित्त) होने योग्य जड़ और चेतन पदार्थ का अपना-अपना भाव है। हे शिष्य! यह बात बहुत गहरी है तो भी एकदम संक्षेप में यहाँ कही है।

नरक में अग्नि इतनी अधिक तीव्र है कि लोहे का शोला घी के समान पिघल जाये ऐसा शास्त्र में कहा है, यह तो निमित्त की योग्यता बताते हैं; किन्तु निमित्त ने नरक के जीवों के परिणाम में फेरफार किया हो ऐसा वस्तुस्वरूप है ही नहीं। अग्नि की पर्याय अग्नि में है, शरीर की पर्याय शरीर में है, नारकी के आत्मा की पर्याय उनकी आत्मा में है, तीनों वस्तुएँ भिन्न हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु को स्पर्श भी नहीं करती तो फिर एक-दूसरे में क्या करें? नारकी जीव अपने चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर स्वयं के कारण मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेष और आकुलता करता है।

विभाव संयोग में नहीं है, विभाव निमित्त में (कर्म) नहीं तथा विभाव अपने त्रिकाली स्वभाव में भी नहीं; अपितु विभाव तो अपनी एक समय की अवस्था में अपने भाव के कारण है।

सुई लौह चुंबक की उपस्थिति में खिंचती है, यह सुई की योग्यता के कारण खिंची है। एक-दूसरे को कोई नहीं खींचता। समय-समय की सुई खिंचने की योग्यता के कारण वह खिंचती है। उपादान का सौ प्रतिशत उपादान में है और निमित्त का सौ प्रतिशत निमित्त में है।

मनुष्य देव आदि पर्यायें कर्म का कार्य किस तरह हैं?

आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलता है और पर-पदार्थ में मेरापना मानकर मोहरूपी क्रिया करता है; इसका निमित्त पाकर जड़-कर्म बंधते हैं और जड़कर्म के फल में मनुष्यादि पर्यायें मिलती हैं; इसीलिए कर्म के स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव हुआ ऐसा कहा जाता है।

जैसे अग्नि के स्वभाव से तेल जल जाता है और दीपक प्रकाशित होता है; अतः दीपक अग्नि का कार्य है; ऐसे ही जीव स्वयं में विकार करता है और विकार के फल में कर्मबंध होता है, इस कारण जीव के स्वभाव का पराभव होता है और मनुष्य आदि गति मिलती है, इस कारण मनुष्य आदि पर्यायें कर्म का कार्य हैं ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ पर प्रवचन

११६ गाथा में कही गई मोह क्रिया, जो कि अपने स्वभाव को भूलकर जीव करता है, उसका फल मनुष्य आदि पर्याय हैं; क्योंकि विकारी परिणाम से कर्म बंधते हैं और कर्म जीव के स्वभाव का घात करके मनुष्य आदि गति को उत्पन्न करते हैं। मनुष्य पर्याय का वास्तविक कारण राग-द्वेष ही है, किन्तु राग-द्वेष से जड़-कर्म बंधते हैं; इसीलिए जड़-कर्म के कारण जीव के स्वभाव का घात होता है और गतियों में जीव भ्रमता है ऐसा उपचार किया गया है।

आत्महित करना है तो इन प्रतिकूल संयोगों में ही करना होगा। इन संयोगों को हटाना अपने हाथ की बात तो है ही नहीं। हाँ, हम चाहें तो इन संयोगों पर से अपना लक्ष्य हटा सकते हैं, दृष्टि हटा सकते हैं। यही एक उपाय है आत्महित करने का, अन्य कोई उपाय नहीं।

सत्य की खोज, पृष्ठ-२१५

प्रवचनसार गाथा ११८

अब, यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है? :

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।

ण हि ते लब्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥११८॥

(हरिगीत)

नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गति में ।

स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं ॥११८॥

अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः] मनुष्य, नारक, तिर्यच और देवरूप जीव [खलु] वास्तव में [नामकर्म निर्वृत्ताः] नामकर्म से निष्पन्न हैं । [हि] वास्तव में [स्वकर्माणि] वे अपने कर्मरूप से [परिणममानाः] परिणमित होते हैं; इसलिये [ते न लब्धस्वभावाः] उन्हें स्वभाव की उपलब्धि नहीं है ।

टीका : प्रथम तो, यह मनुष्यादिपर्यायों नामकर्म से निष्पन्न हैं, किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है; जैसे कनकबद्ध (सुवर्ण में जड़े हुए) माणिकवाले कंकणों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता, तदनुसार । जो वहाँ जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता अनुभव नहीं करता, सो स्वकर्मरूप परिणमित होने से है, पानी के पूर (बाढ़) की भाँति । जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब-चन्दनादिवनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्ति रूप) परिणमित होता हुआ (अपने ^१द्रवत्व और ^२स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से

१. द्रव्यत्व = प्रवाहीपना ।

२. स्वादुत्व = स्वादिष्टपना ।

स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और ^१निरूपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता ।

भावार्थ : मनुष्यादिपर्यायों में कर्म कहीं जीव के स्वभाव को न तो हनता है और न आच्छादित करता है; परन्तु वहाँ जीव ही अपने दोष से कर्मानुसार परिणमन करता है, इसलिये उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है । जैसे पानी का पूर प्रदेश की अपेक्षा से वृक्षों के रूप से परिणमित होता हुआ अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध करता हुआ अनुभव नहीं करता और स्वाद की अपेक्षा से वृक्षरूप परिणमित होता हुआ अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा से स्वकर्मानुसार परिणमित नहीं होता हुआ अपने अमूर्तत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता और भाव की अपेक्षा से स्वकर्मरूप परिणमित होता हुआ उपराग से रहित विशुद्धिवालापनारूप अपने स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता । इससे यह निश्चित होता है कि मनुष्यादिपर्यायों में जीवों को अपने ही दोष से अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य किसी कारण से नहीं । ‘कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है’ ऐसा कहना तो उपचार कथन है; परमार्थ से ऐसा नहीं है ।

गाथा ११८ पर प्रवचन

अब मनुष्यादि पर्यायों में जीव को स्वभाव का पराभव किस कारण होता है, उसका निर्णय करते हैं ।

प्रथम तो मनुष्य, तिर्यच, नारक और देव ये चार गतियाँ नामकर्म के निमित्त से मिली हैं, परन्तु इससे भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है । शरीर की प्राप्ति होना दुःख का कारण नहीं है ।

“जिसतरह सोने में जड़े हुए माणिकवाले कंकड़ों में माणिक सोने में जड़ा हुआ है; किन्तु इससे माणिक का स्वभाव नहीं बदल जाता । इसीतरह

१. निरूपराग विशुद्धिमत्वरूप = उपराग (मलिनता, विकार) रहित विशुद्धिवालापना (अरूपीपना और निर्विकार विशुद्धिवालापना आत्मा का स्वभाव है ।)

जीव को मनुष्य आदि शरीर एकक्षेत्रावगाह संबंध से मिला है, इसकारण से जीव विकारी नहीं होता अर्थात् शरीर के कारण से उसका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता।

मेरा सुख और आनन्द मुझमें है। इसप्रकार अपने स्वभाव का अनुभव नहीं करता। वह जीव शरीर मेरा है, पर पदार्थ से सुख होता है। ऐसी स्वयं की अज्ञानमय मान्यता के कारण विकारी परिणामरूप परिणमित होता है।

जिस तरह पानी के पूर की व्यंजन पर्याय अर्थात् आकृति का स्वभाव तो पूररूप बहना है और अर्थ पर्याय अर्थात् स्पर्श-रस-गंध आदि की पर्याय तो स्वादिष्टरूप रहना है; फिर भी वह स्वयं की योग्यता के कारण नीम और चंदन आदि वृक्षों के साथ परिणमित होता है।

पानी ऊँचा व चौड़ेरूप आकार और कड़वे अथवा सुगंध आदि पर्यायरूप स्वयं के कारण परिणमित होता है। नीम के झाड़ के कारण पानी ऊपर नहीं चढ़ता अथवा कड़वेरूप नहीं होता; किन्तु स्वयं की योग्यता से परिणमित होता है। इसकारण प्रवाहरूप रहना उसकी मूल आकृति है तथा स्वादिष्टरूप पानी का मूल स्वभाव है, उसे वह प्राप्त नहीं करता।

इसीतरह आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से विभावव्यंजनपर्यायरूप अर्थात् पृथक्-पृथक् आकार से मनुष्य देव आदि आकाररूप परिणमित होता है और ज्ञान-दर्शन की कम अवस्थारूप तथा राग-द्वेष अवस्थारूप स्वयं की योग्यता से परिणमित होता है; इसकारण अपने अरूपित्व और निर्विकार विशुद्धिवाले स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।

कोई प्रश्न करता है कि मनुष्य का शरीर मिला, इसीलिए मनुष्य की आत्मा का आकार उसरूप हुआ? बहुत से जीवों के बीच एक निगोद का शरीर मिला, इसीलिए निगोद की आत्मा का आकार ऐसा हुआ? कानखजूरा को बहुत से पैरोंवाला शरीर मिला, इसीलिए उसकी आत्मा का आकार ऐसा हुआ? नहीं, प्रत्येक आत्मा की व्यंजनपर्याय स्वयं की

योग्यता के कारण होती है, शरीर के कारण नहीं; इसी तरह कर्म का उदय आया, इस कारण ज्ञान की हीन दशा हुई; अथवा राग-द्वेष हुआ? नहीं! प्रत्येक आत्मा की अर्थपर्याय स्वयं की योग्यता के कारण होती है। जैसे पानी को लोटे में डाला जावे तो पानी लोटे की आकृति जैसे आकाररूप स्वयं के कारण रहता है, इसी तरह शरीर लोटे के समान है, जीव की योग्यता के कारण जैसा-जैसा शरीर मिला; वैसे-वैसे आकाररूप वह स्वयं की योग्यता के कारण रहता है।

गाथा ११६ व ११७ में जीव की अर्थपर्याय बताई थी और ११८वीं गाथा में व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों को बताया है।

यह अंगुली बदलती है और सीधे में से टेढ़ी होती है, वह उसकी व्यंजन पर्याय बदलती है। अंदर आत्मा के प्रदेश बदले, इसीलिए अंगुली नहीं बदलती। पानी नीम के आकाररूप और कड़वेरूप परिणमित होता है, वह नीम के कारण नहीं बदलता; किन्तु स्वयं के कारण बदलता है। समय-समय जीव के आकार की अवस्था हुआ करती है।

प्रदेशत्व गुण किस समय नहीं है? गुण है तो उसका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। आत्मा एक द्रव्य है, इसलिये उसका भी आकार है। आत्मा को जड़ का आकार नहीं है, इसीलिये उसे निराकार कहा जाता है, किन्तु वास्तव में स्वयं असंख्य प्रदेशात्मक होने से आत्मा आकार सहित है। आकाश भी आकार सहित है। सभी द्रव्य स्वयं सिद्ध हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय की एक-एक समय की व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय कैसी स्वतंत्र होती है, उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं।

मनुष्य, तिर्यच आदि चारों अवस्था में जड़कर्म जीव के स्वभाव का घात नहीं करता, अपितु जीव स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण मिथ्या भ्रांति तथा राग-द्वेष-रूप परिणमित होता है, इस कारण उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

जिस तरह पानी का पूर प्रदेश अपेक्षा से वृक्ष के आकाररूप होता है

तथा वह अपने असली प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को प्राप्त नहीं करता और स्वाद की अपेक्षा वह कड़वे अथवा खट्टे वृक्षरूप परिणमित हो जाता है, तब अपने स्वादिष्ट स्वभाव को प्राप्त नहीं करता; उसी तरह आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा अपनी विभाव व्यंजन पर्यायरूप परिणमित होने से, जैसे कि मनुष्य पर्याय, देव पर्याय आदिरूप परिणमित होता है; तब अपने अमूर्त स्वभाव को प्राप्त नहीं करता और भाव की अपेक्षा से अपनी अर्थ पर्याय की योग्यतानुसार परिणमित होता है, जब श्रुतज्ञानरूप अथवा शुभाशुभ भावरूप परिणमित हो जाता है; तब अपने वीतराग, सर्वज्ञ परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ यह बात सिद्ध की गई है कि आत्मा की व्यंजन पर्याय में फेरफार हो अथवा अर्थपर्याय हीन हो अथवा अधिक हो, वह स्वयं के विकारी परिणाम के कारण है, किन्तु कर्म अथवा अन्य पदार्थ के कारण नहीं।

एक रजकण के कारण दूसरे रजकण में फेरफार नहीं होता, एक रजकण के कारण दूसरी आत्मा में फेरफार नहीं होता, एक आत्मा के कारण रजकण में फेरफार नहीं होता, एक आत्मा के कारण दूसरी आत्मा में फेरफार नहीं होता। प्रत्येक की व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय का स्वकाल है, जो स्वयं अपने कारण है।

समान जाति द्रव्यपर्याय दो अथवा उससे अधिक परमाणु की बनी है ऐसा कहने पर वे परमाणु पृथक् हैं ऐसा बताते हैं, एक के कारण दूसरा नहीं असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहने पर आत्मा और शरीर असमान हैं, दोनों पृथक् हैं ऐसा बताते हैं। शरीर के कारण आत्मा नहीं और आत्मा के कारण शरीर नहीं है।

एक लकड़ी में अनन्त परमाणु की अवस्था है, स्थूलरूप से एक-एक परमाणु की उसीरूप रहने की योग्यता है। परमाणु पृथक् होता है, तब उसकी सूक्ष्मता के समय जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता स्थूलरूप के समय नहीं और स्थूल के समय जैसी योग्यता है; वैसी योग्यता, सूक्ष्मरूप

होने के समय नहीं है, सूक्ष्म अथवा स्थूलरूप योग्यता स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं।

इस गाथा में जीव का दृष्टांत दिया है। स्वयं के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की यथार्थ समझ आने पर जीव को अपनी परप्रकाशक शक्ति के कारण सभी ज्ञेयों की द्रव्य, गुण, पर्याय, व्यंजन और अर्थपर्याय सहित यथार्थ समझ हो जाती है। इससे यह निर्णय होता है कि नित्य निगोद के जीव से लेकर देवगति तक के जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभाव का अनुभव नहीं करते, इसका कारण स्वयं का ही विकार-भाव है। स्वयं के दोष के कारण, वीतरागता और सर्वज्ञत्व को प्राप्त नहीं होते। तीव्र कर्म का उदय तथा शरीर, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार अथवा कोई भी परवस्तु अपने राग-द्वेष का कारण है ही नहीं।

कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है ऐसा कहना तो उपचार कथन है, वास्तव में ऐसा नहीं है। जीव अपने अपराध के कारण अपने वीतरागी शुद्ध आत्मस्वभाव का पराभव करता है, जो वास्तव में कारण है। जब स्वयं भूलता है, तब कर्म पर उपचार आता है।

जैनदर्शन वस्तुस्वभाव दर्शन है। जैनदर्शन में चैतन्यस्वभाव प्रधान है। जैनदर्शन विकारप्रधान नहीं, जैनदर्शन कर्मप्रधान भी नहीं है। चैतन्य स्वभाव जानने पर विकार और कर्म आदि परवस्तु जानने में आ जाती है।

एकत्व (अकेलापन) आत्मा की मजबूरी नहीं, सहजस्वरूप है। एकत्व आत्मा का ऐसा स्वभाव है, जो अनादिकाल से प्रतिसमय उसके साथ है और अनन्तकाल तक रहेगा; क्योंकि वह आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है। इसीप्रकार अन्यत्व भी आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव ही है। निज में एकत्व और पर से अन्यत्व वस्तु की स्वभावगत विशेषताएँ हैं, इनके बिना वस्तु का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।

बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-६४

प्रवचनसार गाथा ११९

अब, जीव की द्रव्यरूप से ^१अवस्थितता होने पर भी पर्याय से अनवस्थितता (अनित्यता-अस्थिरता) प्रकाशते हैं :

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुद्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥११९॥
(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पादव्ययमय लोक में ।

अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी ॥११९॥

अन्वयार्थ : [क्षणभङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोक में [कश्चित्] कोई [न एव जायते] उत्पन्न नहीं होता और [न नश्यति] न नष्ट होता है; [हि] क्योंकि [यः भवः सः विलयः] जो उत्पाद है, वही विनाश है; [संभवविलयौ इति तौ नाना] और उत्पाद तथा विनाश इसप्रकार वे अनेक (भिन्न) भी हैं ।

टीका : प्रथम तो यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है (अर्थात् इस लोक में कोई न तो उत्पन्न होता है और न नाश को प्राप्त होता है) । और (ऐसा होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यच-नारकात्मक जीव लोक प्रतिक्षण परिणामी होने से क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ (भी) जुड़ा हुआ है । और यह विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उद्भव और विलय का एकपना और अनेकपना है । जब उद्भव और विलय का एकपना है, तब पूर्वपक्ष है और जब अनेकपना है, तब उत्तरपक्ष है । (अर्थात् जब उत्पाद और विनाश के एकपने की अपेक्षा ली जाये, तब यह पक्ष फलित होता है कि 'न तो कोई उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है'; और जब उत्पाद तथा विनाश के अनेकपने की अपेक्षा ली जाये, तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है ।) वह इसप्रकार है :

१. अवस्थितता = स्थिरपना; ठीक रहना ।

जैसे : 'जो घड़ा है, वही कूँडा है' ऐसा कहा जाने पर, घड़े और कूँडे के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है; उसीप्रकार 'जो उत्पाद है, वही विनाश है' ऐसा कहा जाने पर और विनाश के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है; इसलिये देवादिपर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादिपर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है, वही विलय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान् जीवद्रव्य प्रगट होता है (लक्ष्य में आता है); इसलिये सर्वदा द्रव्यपने से जीव टंकोत्कीर्ण रहता है ।

और फिर, जैसे 'अन्य घड़ा है और अन्य कूँडा है' ऐसा कहा जाने पर उन दोनों की आधारभूत मिट्टी का अन्यपना (भिन्न-भिन्नपना) असंभवित होने से घड़े का और कूँडे का (दोनों का भिन्न-भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है; उसीप्रकार अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है ऐसा कहा जाने पर, उन दोनों के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यपना असंभवित होने से उत्पाद और व्यय का स्वरूप प्रगट होता है; इसलिये देवादिपर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादिपर्याय के नष्ट होने पर, 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उत्पाद और व्ययवाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्ष्य में आती है); इसलिये जीव प्रतिक्षण पर्यायों से अनवस्थित है ।

गाथा ११९ पर प्रवचन

प्रथम तो इस लोक में किसी द्रव्य का जन्म नहीं होता और किसी द्रव्य का नाश नहीं होता; क्योंकि द्रव्यदृष्टि से जीव ऐसे का ऐसा ही रहता है; फिर भी मनुष्य, देव, तिर्यच और नारकी जीव समय-समय परिणामी होने से समय-समय होनेवाले उत्पाद और व्यय के साथ जुड़े हैं, इसमें विरोध नहीं आता । चारों गति में समय-समय परिणाम हुआ करते हैं, किन्तु कर्म के कारण परिणाम होते हैं यह बात तो ली ही नहीं है । पूर्व

अवस्था का नाश होता है और नई अवस्था का उत्पाद होता है, जीव दोनों में ध्रुवरूप रहता है, जीव पृथक् नहीं रहता।

जीव ऐसे का ऐसा रहता है अर्थात् ध्रुवदृष्टि से जीव अवस्थित है और क्षण-क्षण में अवस्था बदलती है, इसीलिए अवस्थादृष्टि से अनवस्थित है अर्थात् अस्थिर है। ऐसा अवस्थादृष्टि से कहा है; किन्तु कर्म के कारण अस्थिर है ऐसा नहीं कहा।

निगोद से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के जीव और एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव स्वयं के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं परिणाम करना स्वयं का स्वभाव है। प्रत्येक जीव समय-समय उत्पाद-विनाश के साथ जुड़े हुए हैं, किन्तु ये क्षण-क्षण में कर्म के उदय के साथ जुड़े हुए हैं ऐसा नहीं कहा है। जब उद्भव और विलय का एकत्व है, तब पूर्व पक्ष है। जैसे कि एक जीव मनुष्य पर्याय का व्यय करके देव में उत्पन्न हुआ, तब वह का वही जीव है; इसकी अपेक्षा से कहा जाये तो वह जीव जन्मा भी नहीं और मरा भी नहीं है, जीव वह का वही है इसे जीव का द्रव्यरूप से अवस्थितपना कहा जाता है और उत्पाद और व्यय का अनेकत्व है, तब उत्तर पक्ष है; जैसे कि मनुष्यपर्याय का नाश हुआ और देवपर्याय का उत्पाद हुआ, इसमें पूर्व-अवस्था दूर हुई और नई अवस्था हुई, इसमें अनेकत्व है। इसे जीव का पर्यायरूप से अनवस्थितपना कहा जाता है। एकत्व और अनेकत्व स्वयं में लागू पड़ता है।

जीव ऐसे का ऐसा रहे यह जीव का द्रव्यस्वभाव है और पूर्व अवस्था दूर होकर नई अवस्था हुई यह जीव का पर्यायस्वभाव है।

आत्मा अपने द्रव्य और पर्यायस्वभाव को यथार्थ समझे तो अपना बंधु है और अज्ञान के कारण पराधीनता माने और नहीं समझे तो स्वयं अपना बैरी है।

यहाँ एक मात्र स्थूलगति की बात नहीं की, अपितु समय-समय के परिणाम की बात की है। जीव द्रव्यरूप से स्थिर है और परिणाम की

अपेक्षा अस्थिर है; इसतरह प्रत्येक ज्ञेय में द्रव्य-अपेक्षा से स्थिरपना और पर्याय अपेक्षा से अस्थिरपना होने में विरोध नहीं है; इसप्रकार ज्ञेय का ज्ञान कराते हैं।

‘जो घड़ा है, वही सुराही है’ यदि ऐसा कहना हो तो घड़े का स्वरूप और सुराही का स्वरूप तो पृथक्-पृथक् है, उसे एकत्व लागू नहीं पड़ता। यदि घड़े और सुराही में एकत्व सिद्ध करना हो तो मिट्टी की अपेक्षा उनमें एकत्व है; क्योंकि मिट्टी उनमें अवस्थित है।

‘जो उत्पाद है, वही व्यय है’ यदि ऐसा कहना हो, तब उत्पाद और नाश में द्वैत सिद्ध होता है, एकत्व सिद्ध नहीं होता; किन्तु उत्पाद और नाश का आधारभूत ध्रुव दोनों में एक है। ध्रुव में एकत्व सिद्ध होता है, वह ऐसे का ऐसा स्थिर रहता है। इसतरह देव अवस्था का उत्पाद होने पर और मनुष्य पर्याय का नाश होने पर जो उत्पाद है, वही विलय है इस अपेक्षा कहें तो देव और मनुष्य में एकत्व की अपेक्षा नहीं आयेगी। इसमें तो अनेकत्व आयेगा, किन्तु उन दोनों का आधारभूत जीव-समान सिद्ध होता है। जीव वह का वही रहता है। अतः जीव अवस्थित सिद्ध होता है।

यह दोनों अवस्थायें किसकी हैं? ऐसा प्रश्न होने पर निश्चित होता है कि ध्रुव काय भी स्थिर तत्त्व दोनों में रहा है। ध्रुव शाश्वत नित्य आनंद स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान होने पर ध्रुवदृष्टि उत्पन्न होती है और पर्यायदृष्टि का नाश होता है, यही धर्म है। यह ज्ञानप्रधान सम्यक्त्व का विषय है।

‘तथा घड़ा अन्य है और सुराही अन्य है’ ऐसा कहना हो तब दोनों का आधार जो मिट्टी है, उसमें अनेकत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु घड़े और सुराही का अनेकत्व प्रगट होता है। मिट्टी में पर्यायदृष्टि से अनवस्थितपना होता है, मिट्टी घड़ेरूप, सुराहीरूप उसके पर्यायस्वभाव के कारण हुई है; किन्तु कुम्हार, चक्र, दण्ड आदि के कारण अन्यरूप नहीं हुई।

एक अंगुली सीधे में से वक्र हुई, यह अंगुली के परमाणु का अनवस्थितपना सिद्ध करता है, उसका पर्यायधर्म सिद्ध करता है, किन्तु दूसरा जीव था; इसीलिए अंगुली वक्र हुई है ऐसा सिद्ध नहीं करता।

एक जीव ने इच्छा करने के पश्चात् उस इच्छा का व्यय किया कि यह अनेकत्व अथवा अस्थिरपना जीव का, जीव को लागू होता है, किन्तु अन्य संयोग आये; इसीलिए इच्छा मिटी ऐसा नहीं है। क्योंकि यहाँ एक अखण्ड ज्ञेय सिद्ध करना है। यहाँ तो संयोग की बात ली ही नहीं, स्वभाव की बात ली है।

अन्य उत्पाद है और अन्य विलय है' ऐसा कहना हो तब उन दोनों का आधार जो ध्रुव है, उसमें अनन्यपना है, अन्यत्व असम्भावित है। उत्पाद और व्यय दोनों को लिया जाए तो दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप निश्चित होता है।

इसी तरह देवपर्याय उत्पन्न होने पर और मनुष्यपर्याय नष्ट होने पर अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है तथा उन दोनों का आधार जीव है; उसमें अनन्यत्व है, पृथक्त्व सम्भावित नहीं; इसीलिए पृथक्ता की अपेक्षा लेते समय यह देवपर्याय प्रगट होती है और यह मनुष्यपर्याय व्यय होती है ऐसा ख्याल में आता है।

जीव के स्वयं के अनवस्थित पर्यायस्वभाव के कारण पूर्व अवस्था का नाश होता है और नई अवस्था का उत्पाद है, किन्तु पर-पदार्थों के कारण उत्पाद अथवा व्यय होते ही नहीं। उत्पाद-व्ययरूप होना यह सभी द्रव्यों का पर्याय अपेक्षा से अनवस्थित धर्म है। यहाँ तो स्वभाव की ही बात है।

मिल की पुरानी अवस्था का नाश हुआ और नई सुंदर अवस्था का उत्पाद हुआ, इसमें मिल के परमाणु सिद्ध हुए हैं; क्योंकि वे परमाणु उनके अनवस्थित धर्म के कारण इस अवस्थारूप परिणमित हुए हैं, किन्तु यह अवस्था मिल के सेठ को सिद्ध नहीं करती। भाषा के परमाणु परिणमित हुए और पुरानी अवस्था नाश हुई; यह परमाणु के पर्याय धर्म को सिद्ध करता है, किन्तु जीव की इच्छा को सिद्ध नहीं करती।

दीनता की पर्याय का उत्पाद हुआ और अधिकारीपने की अवस्था नाश हुई, यह जीव द्रव्य के अनवस्थित धर्म को सिद्ध करता है; किन्तु राज्य के संयोगों को सिद्ध नहीं करता। राज्य चला गया, इसीलिए दीनता

आई है यह बात बिलकुल असत्य है।

आटे की पर्याय का व्यय हुआ और रोटी की पर्याय का उत्पाद हुआ, यह परमाणु के पर्याय धर्म को सिद्ध करता है, किन्तु रोटी बनानेवाली बाई को सिद्ध नहीं करता।

सेठ गैरहाजिर था; इसीलिए दुकान नहीं चली और सेठ आये तो दुकान चलती है यह बात बिलकुल असत्य है। सेठ का जीव स्वयं में अपने पर्याय स्वभावरूप होता है और दुकान, दुकान के पर्याय स्वभावरूप होती है।

पर का प्रभाव किसी वस्तु के ऊपर पड़ता है यह बात ही असत्य है। किसी के कारण किसी की अवस्था में फेर-फार होता ही नहीं; इसीलिए प्रतिक्षण अवस्थादृष्टि से जीव अनवस्थित है, किन्तु पर-पदार्थ से अनवस्थितपना है ऐसा है ही नहीं।

कर्म की पर्याय उत्पाद-व्यय-रूप कर्म की पर्याय के स्वभाव के कारण है, जीव के राग के कारण नहीं; इसीतरह जीव के राग का उत्पाद-व्यय जीव के पर्यायस्वभाव के कारण है, किन्तु कर्म के कारण नहीं।

जीव में एकत्व देखना हो तो उसमें ध्रुव स्वभाव से एकत्व है और जीव में अनेकत्व देखना हो तो उसके अध्रुव स्वभाव से अनेकत्व है।

दोनों जीव के अपने स्वभाव से हैं, पर के कारण नहीं। इसप्रकार ज्ञेय के दोनों स्वभाव स्वतंत्र हैं ऐसा यथार्थ ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है और यह धर्म का कारण है।

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्व-पर भेदविज्ञान है।

तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१२९

प्रवचनसार गाथा १२०

अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं :

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्टिदो त्ति संसारे ।

संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥१२० ॥

(हरिगीत)

स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं ।

संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है ॥१२०॥

अन्वयार्थ : [तस्मात् तु] इसलिये [संसारे] संसार में [स्वभावसमवस्थितः इति] स्वभाव से अवस्थित ऐसा [कश्चित् न अस्ति] कोई नहीं है; (अर्थात् संसार में किसी का स्वभाव केवल एकरूप रहनेवाला नहीं है); [संसारः पुनः] और संसार तो [संसरतः] संसरण करते हुए (गोल फिरते हुए, परिवर्तित होते हुए) [द्रव्यस्य] द्रव्य की [क्रिया] क्रिया है ।

टीका : वास्तव में जीव द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है; इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी स्व भाव से अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसी का स्व भाव केवल अविचल-एकरूप रहनेवाला नहीं है); और यहाँ जो अनवस्थितता है, उसमें संसार ही हेतु है; क्योंकि वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक है, कारण कि वह स्वरूप से ही वैसा है, (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है) उसमें परिणमन करते हुए द्रव्य का पूर्वोत्तरदशा का त्याग-ग्रहणात्मक ऐसा जो क्रिया नाम का परिणाम है, वह संसार का स्वरूप है ।

गाथा १२० पर प्रवचन

अब जीव के अनवस्थितपने का कारण प्रकाशित करते हैं :

संसार क्या है और वह कहाँ रहता है? यह इस गाथा में बताते हैं । आत्मा का शुद्धस्वभाव तो ज्ञानानन्द है । इस स्वभाव को भूलकर अपनी पर्याय में विकारी भाव करता है, वह संसार है । स्त्री, कुटुम्ब आदि संसार नहीं है; इसीतरह अपने द्रव्य गुण में भी संसार नहीं है । द्रव्य गुण तो शुद्ध ही है, स्वयं की पर्याय में चार गति होना वह संसार है ।

वास्तव में जीव द्रव्यरूप से अवस्थित है अर्थात् स्थिर है, किन्तु अवस्था से अस्थिर है, अतः ऐसा निश्चित होता है कि संसार में कोई भी स्वभाव से एकरूप नहीं है, संसार में प्रत्येक समय नई-नई अवस्था हुआ ही करती है ।

संसार दो समय का नहीं है, एक ही समय का है । पूर्व के संसार का व्यय होता है और नया संसार उत्पन्न होता है । संसार स्थित एकरूप रहे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है ।

नित्य निगोद में अनन्त जीव हैं । वहाँ भी उन जीवों के द्रव्य-गुण तो शुद्ध ही हैं, किन्तु उनकी एक समय की पर्याय विकारी है । नित्य निगोद के जीव को अनादि का संसार एक साथ इकट्ठा नहीं हो गया है, अपितु वहाँ भी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर प्रति समय का नया है ।

निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संसार है, यह अपने आत्मा के अपराध के कारण है; किन्तु कर्म या शरीर आदि संसार का कारण है ही नहीं ।

द्रव्यदृष्टि से आत्मा में संसार है ही नहीं और पर्यायदृष्टि से अवस्था में संसार है । यहाँ जीव का एकरूप नहीं रहना ही संसार का कारण है । मनुष्य का शरीर मनुष्य गति नहीं है, अपितु आत्मा में मनुष्यरूप होने की योग्यता का नाम ही मनुष्यपर्याय है ।

चारों गति में संसारी जीव अनेक रूप धारण करता है और एक गति में भी अनेकप्रकार के विकारी परिणाम करता है । कोटिपूर्व तक भी मनुष्य की आयु होती है; वहाँ भी एक समय एक भाव और दूसरे समय दूसरा भाव इसप्रकार अनेकत्व धारण कर रहा है; क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा है । यहाँ जीव समय-समय परिणामित होता है, इसमें पूर्व के विकार का व्यय और नये विकार का ग्रहण ऐसा जो क्रिया नाम का परिणाम, यह संसार का स्वरूप है ।

स्त्री-पुत्र, शरीर आदि तो परवस्तु हैं; इसे आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता; इसीतरह इसे छोड़ भी नहीं सकता । अज्ञानी जीव मानता है कि स्त्री-पुत्र छोड़ा, दुकान छोड़ी अर्थात् संसार छोड़ा, किन्तु यह तो अज्ञान भाव है ।

परवस्तु तो आत्मा में अत्यंत अभावस्वरूप है, वह तो छूटी हुई पड़ी है। कर्म, शरीर, पुत्रादि अभावस्वरूप ही हैं, उनका क्या त्याग करना? ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्रादि मेरे हैं ऐसे ममताभाव पर्याय में ग्रहण करता है और पूर्व के विकारी भाव को त्यागता है। ऐसे अज्ञान, राग, द्वेष के भाव को तथा गति की योग्यता के भाव को संसार की एकसमय की विकारी क्रिया कही है।

कुदेव, कुगुरु मिले; इसलिए ऐसा अज्ञान हुआ हो ऐसा भी नहीं है, अपितु स्वयं अज्ञानभाव खड़ा करता है, किसी काललब्धि के कारण नहीं। संसार जड़ के कारण नहीं तथा कर्म है, इसलिए भी नहीं है; क्योंकि कर्म तो परज्ञेय है। स्वज्ञेय में परज्ञेय नहीं आता।

यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन-अधिकार है। आत्मा में एक समय की विकारी पर्याय स्वज्ञेय तत्त्व है ऐसा ज्ञान कराते हैं। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान करके ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा की रुचि करे तो संसार की रुचि छूट जाती है।

प्रश्न तीर्थंकर भगवान भी तो संसार छोड़कर चले गये और उन्होंने भी तो दीक्षा ली थी न?

उत्तर भगवान ने भी परपदार्थ का ग्रहण नहीं किया था, इसीतरह उन्हें छोड़ा भी नहीं था।

मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' ऐसा ज्ञान तो था ही अर्थात् अभिप्राय से संसार छूट गया था; किन्तु अस्थिरता के राग-द्वेष छोड़कर आत्मा में स्थिर हुए तो उन्होंने कुटुम्ब-कबीला छोड़ा ऐसा कहा जाता है।

निगोद के अनंत जीव एक शरीर में एक साथ रहते हैं। वहाँ भी श्वास, इन्द्रिय तथा आहार का ग्रहण-त्याग है ही नहीं; क्योंकि यह तो परवस्तु है। वहाँ वे अपने विकारी अज्ञानभाव को छोड़ते हैं और नया अज्ञानभाव ग्रहण करते हैं।

यहाँ भी कर्म के कारण संसार नहीं है; क्योंकि यदि कर्म के कारण संसार हो तो कर्म छूटें तब संसार छूटे। अपने अज्ञान भाव से संसार है; अज्ञान छोड़े, तब संसार छूटे और निर्विकारी दशा प्राप्त करें। ●

प्रवचनसार गाथा १२१

अब, परिणामात्मक संसार में किस कारण से पुद्गल का संबंध होता है कि जिससे वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक होता है? इसका यहाँ समाधान करते हैं :

**आदा कम्ममल्लिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
दत्तो सिल्लिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥१२१॥**
(हरिगीत)

कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को ।

कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म है ॥१२१॥

अन्वयार्थ : [कर्ममलीमसः आत्मा] कर्म से मलिन आत्मा [कर्मसंयुक्तं परिणामं] कर्मसंयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के संयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) [लभते] प्राप्त करता है, [ततः] उससे [कर्म श्लिष्यति] कर्म चिपक जाता है (द्रव्यकर्म का बन्ध होता है); [तस्मात् तु] इसलिये (परिणामः कर्म) परिणाम वह कर्म है।

टीका : 'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उसप्रकार का) परिणाम है, वही द्रव्य कर्म के चिपकने का हेतु है। अब, उसप्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? (इसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि 'द्रव्यकर्म की संयुक्तता से ही वह देखा जाता है।

(शंका :) ऐसा होने से 'इतरेतराश्रय दोष आयेगा?

१. द्रव्यकर्म के संयोग से ही अशुद्ध परिणाम होते हैं, द्रव्यकर्म के बिना वे कभी नहीं होते; इसलिये द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणाम का कारण है।
२. एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिए दूसरी असिद्ध बात का आश्रय लिया जाए और फिर उस दूसरी बात को सिद्ध करने के लिए पहली का आश्रय लिया जाए सो इस तर्क-दोष को इतरेतराश्रय दोष कहा जाता है।
द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा है; फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारण के संबंध में पूछे जाने पर उसका कारण पुनः द्रव्यकर्म कहा है, इसलिये शंकाकार को शंका होती है कि इस बात में इतरेतराश्रय दोष आता है।

(समाधान :) नहीं आयेगा; क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ संबद्ध ऐसे आत्मा का जो पूर्व का 'द्रव्यकर्म' है, उसका वहाँ हेतु रूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है ऐसा (आत्मा का तथाविध परिणाम) होने से आत्मा का तथाविध परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।

गाथा १२१ पर प्रवचन

अब, परिणामात्मक संसार में किस कारण पुद्गल कर्म का संबंध होता है कि जिससे संसार में मनुष्य आदि पर्याय होती है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं :

संसार नाम का जो इस आत्मा का उसप्रकार का परिणाम, वही द्रव्य कर्म को बंध का कारण है। यहाँ तथाविध शब्द कहा है। संसार एक समय का सत् है। संसार बिलकुल असत् है अथवा अशुद्धता पर्याय में है ही नहीं ऐसा मानें और कहें कि ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या तो ऐसी मान्यता भूलयुक्त है। तथाविध परिणाम कहा है अर्थात् आत्मा की पर्याय में स्वयं के अज्ञान के कारण राग-द्वेष का परिणाम एक समय मात्र है ऐसा निर्णय कराते हैं।

अब अशुद्ध उपादान का निमित्त कौन है यह बताते हैं। पुराना द्रव्यकर्म अशुद्धता का निमित्त है। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलता है और संयोग का आश्रय करके राग-द्वेष करता है तो पुराना द्रव्यकर्म हेतु है अर्थात् निमित्त है ऐसा कहा जाता है। उपादान कारण तो स्वयं की योग्यता है और निमित्त कारण जड़कर्म है। स्वयं विकार न करें तो कर्म निमित्त नहीं कहलाते।

३. नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है और उस अशुद्ध आत्मपरिणाम का कारण वह का वही (नवीन) द्रव्यकर्म नहीं, किन्तु पहले का पुराना द्रव्यकर्म है; इसलिये इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

द्रव्यकर्म के संयोग में ही अशुद्ध परिणाम होते हैं, द्रव्यकर्म बिना अशुद्धता कभी नहीं होती; इस कारण द्रव्यकर्म को अशुद्ध परिणाम का निमित्त कहा है। यहाँ पुराने कर्म के कारण राग होता है, यह नहीं बताना है; क्योंकि राग तो आत्मा की पर्याय है और कर्म का द्रव्य भी जड़, उनके गुण भी जड़ और उनकी पर्याय भी जड़ है। वह विकार नहीं कराती; क्योंकि चैतन्य में जड़ का अभाव है। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताकर द्रव्यकर्म के संयोग में ही विकार होता है यह बताया है। संयोग कहने से ही भिन्नता बताते हैं।

एक असिद्ध को सिद्ध करने के लिए दूसरे असिद्ध का आश्रय लिया जाये और दूसरे को सिद्ध करने के लिए पहले का आश्रय लिया जाये, इसको इतरेतराश्रय दोष कहा जाता है।

द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा, पश्चात् इस अशुद्ध परिणाम के कारण के विषय में पूछने पर उसका पूर्व द्रव्यकर्म कहा; इसलिए शंकाकार को शंका होती है कि इस बात में इतरेतराश्रय दोष आता है।

समाधान : इतरेतराश्रय दोष नहीं आता; क्योंकि नये द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मा का परिणाम है और इस अशुद्ध आत्मपरिणाम का कारण वह का वही द्रव्यकर्म नहीं अर्थात् नया द्रव्यकर्म नहीं, अपितु पूर्व के पुराने द्रव्यकर्म हैं, इसीलिए वहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

आत्मा के विकारी परिणाम पुराने द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर होते हैं और वे परिणाम यदि उसी पुराने कर्म बंधने में निमित्त होते हों तो दोष आयेगा और शंकाकार की शंका सही कहलायेगी, किन्तु पुराने द्रव्यकर्म तो चले जाते हैं और अशुद्ध परिणाम के निमित्त से तो दूसरे नये कर्म बंधते हैं, इसीलिए दोष नहीं आता। इसप्रकार :

(१) पुराने कर्म का निमित्त पाकर जीव विकार करें तो विकार में पुराने कर्म निमित्त कहलाते हैं, इसमें जीव का विकार निमित्त कहलाता है।

(२) यदि जीव विकार नहीं करें तो पुराने कर्म निमित्त नहीं कहलाते

और जीव को नये कर्म भी नहीं बँधते ।

आत्मा का अपना स्वभाव तो ज्ञाता-द्रष्टा है । स्वभाव में विकार है ही नहीं । जीव स्वयं अपना स्वभाव भूलता है और विकार करता है, तब पूर्व कर्म निमित्त कहलाता है ।

आत्मा के साथ कर्म का संबंध अनादि से है ऐसा स्वीकार करके बात की है ।

(१) यदि विकार पूर्व कर्म के कारण होता है ऐसा माना जाये तो इसमें पराधीनता होती है । ऐसा होने पर तो कर्म दूर होंगे, तब विकार मिटेगा अर्थात् पराधीनता कभी दूर नहीं होगी; किन्तु यह बात असत्य है ।

(२) संसारदशा में अशुद्धता के समय कर्म की संयोगरूप उपस्थिति ही नहीं है ऐसा माना जाये तो अशुद्धता अपना कायमी स्वभाव हो जायेगा तो फिर मोक्ष करना नहीं रहेगा; इसीलिए यह बात भी सही नहीं है ।

यह ज्ञेय-अधिकार है । इसमें विकारी परिणाम तथा कर्म का कैसा संबंध होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं । स्वयं विकारी परिणाम करें तो उनमें पूर्व कर्म निमित्त कहलाते हैं और नये कर्म में विकारी परिणाम निमित्त कहलाते हैं ।

स्वयं नये विकारी भाव किये, इसीलिए पूर्व कर्म आये ऐसा नहीं है, कर्म में तो पुराने विकार का निमित्त था और नये विकार का निमित्त पाकर नये कर्म बँधते हैं, किन्तु पूर्व कर्म नहीं बँधते; इसीलिए इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता ।

शास्त्र में निमित्त के कथन बहुत आते हैं । इसमें ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोका ऐसा आता है तो क्या कर्म ज्ञान को रोकता होगा? नहीं! जीव स्वयं ज्ञानहीन (कम) करता है तो कर्म निमित्त कहलाता है । अजीव की पर्याय के कारण जीव की पर्याय कभी नहीं रुकती । प्रत्येक जीव स्वयं के कारण विकार करता है, किन्तु विकार स्वभाव में नहीं है । अपने स्वभाव की श्रद्धा करें तो विकार दूर हो सकता है । इसप्रकार आत्मा के

विकारी परिणाम का कार्य नये जड़कर्म का आना है और विकारी परिणाम पूर्व के द्रव्य कर्म के निमित्त से होता है, इस कारण विकारी परिणाम को उपचार से द्रव्य कर्म कहने में आया है ।

विकारी परिणाम नहीं हो तो पूर्व कर्म निमित्त भी नहीं कहलाते और नये कर्म भी नहीं बँधते । किन्तु विकारी परिणाम करता है, इसकारण नये कर्म का बन्ध उनका कार्य है और पूर्व के द्रव्यकर्म उसके कारणभूत हैं । ऐसे आत्मा के परिणाम होने से भावकर्म को द्रव्यकर्म का कारण उपचार से कहा है ।

अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है और जड़कर्म अपनी पर्याय का कर्ता है, किन्तु जीव विकार करता है और उसके निमित्त से द्रव्यकर्म बँधते हैं, इसलिए आत्मा को द्रव्यकर्म का उपचार से कर्ता कहा गया है ।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है । राग-पर्याय का तथा कर्म का यथार्थ ज्ञान कराके राग और कर्म के ऊपर से दृष्टि हटाकर वीतरागी अभेदस्वभाव का ज्ञान कराने का प्रयोजन है । ●

यद्यपि सभी द्रव्य सत् रूप ही हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्तास्वरूप हैं; तथापि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है । अतः सत्सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी एक होने पर भी सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतंत्र है । सभी द्रव्यों की एकता सादृश्यास्तित्व पर आधारित होने से समानता के रूप में ही है, अभिन्नता के अर्थ में नहीं ।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृष्ठ-६१

प्रवचनसार गाथा १२२

अब, परमार्थ आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं :

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय ति होदि जीवमया ।

किरिया कम्म ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥१२२॥

(हरिगीत)

परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया ।

वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं ॥१२२॥

अन्वयार्थ : [परिणामः] परिणाम [स्वयम्] स्वयं [आत्मा] आत्मा है, [सा पुनः] और वह [जीवमयी क्रिया इति भवति] जीवमय क्रिया है; [क्रिया] क्रिया को [कर्म इति मता] कर्म माना गया है; [तस्मात्] इसलिये आत्मा [कर्मणः कर्ता तु न] द्रव्यकर्म का कर्ता तो नहीं है ।

टीका : प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है; क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है; और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है; क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणाम लक्षण क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है; और फिर जो (जीवमयी) क्रिया है, वह आत्मा के द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होने से कर्म है । इसलिये परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का ही कर्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का नहीं ।

अब यहाँ ऐसा प्रश्न होता है कि (जीव भावकर्म का ही कर्ता है, तब फिर) द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है? इसका उत्तर इसप्रकार है : प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है; और जो उसका (पुद्गल का) तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी ही क्रिया है;

१. प्राप्य = प्राप्त होने योग्य, (जो स्वतंत्रपने करे, सो कर्ता है और कर्ता जिसे प्राप्त करे, सो कर्म है ।)

क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है ऐसा स्वीकार किया गया है; और फिर, जो (पुद्गलमयी) क्रिया है, वह पुद्गल के द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होने से कर्म है । इसलिये परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, किन्तु आत्मा के परिणामस्वरूप भावकर्म का नहीं ।

इससे (ऐसा समझना चाहिए कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणामित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणामित नहीं होता ।

गाथा १२२ पर प्रवचन

अब, परमार्थ से आत्मा को द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं

दया-दान-पूजा के भाव जीव स्वयं करता है; इसीलिए वे स्वयं ही आत्मा हैं । समयसार में द्रव्यदृष्टि कराने के लिए राग अपना त्रिकाली स्वरूप नहीं है, इस अपेक्षा राग को अचेतन कहा है; किन्तु यहाँ तो पर्याय का ज्ञान कराना है; इसलिए विकारी भाव को जीवमयी कहा है; इस क्रिया को कर्म माना गया है अर्थात् उसे भावकर्म कहा गया है । जीव उसका कर्ता है; किन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं ।

जितने प्रमाण में जीव राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में ही द्रव्यकर्म बंधते हैं । मंद राग-द्वेष करे तो कर्म मंद बंधते हैं और तीव्र राग-द्वेष करे तो कर्म तीव्र बंधते हैं । ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी जीव कर्म का कर्ता नहीं है ।

राग-द्वेष और द्रव्यकर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध प्रायः होता ही है, वहाँ भी आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है तो फिर राग-द्वेष तथा बाहर के पदार्थों की क्रिया में कितनी ही बार निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता ही नहीं, वहाँ जीव बाहर के पदार्थों का कर्ता हो और शरीरादि को गमन कराये ऐसी मान्यता तो स्थूल अज्ञानभाव है ।

आत्मा के परिणाम जैसे कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष-अव्रत के भाव, प्रमाद के भाव, आत्मा के प्रदेशों का कंपन होना यह वास्तव में स्वयं आत्मा है । यहाँ पर्याय को आत्मा से अभेद करके कहा है कि राग-द्वेष

आदि के परिणाम आत्मा ही हैं, क्योंकि आत्मा स्वयं परिणामी है अर्थात् परिणामनवाला है। दया-दान आदि शुभ परिणाम और हिंसा-झूठ-चोरी आदि अशुभ परिणाम का करनेवाला आत्मा स्वयं ही है; इसीलिए आत्मा अपने परिणाम से पृथक् नहीं है, अनन्य है अर्थात् आत्मा अपने परिणाम से तन्मय है और वह परिणाम जीवमयी ही क्रिया है; किन्तु कर्म के कारण अथवा बाह्य संयोगों के कारण आत्मा के परिणाम नहीं होते; इसप्रकार पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराया है।

गुणस्थान को 'मोहजोगभवा' कहा है। मोह तथा योग के कारण गुणस्थान हैं (कर्म के कारण गुणस्थान नहीं।) निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों की अशुद्धतावाली क्रिया है। वह आत्मा के स्वयं के परिणाम के कारण है। प्रत्येक आत्मा अपनी अशुद्धता में तन्मय हुआ है, उसे स्वतंत्ररूप से पहुँचता है। ज्ञान-दर्शन की हीन दशा, राग-द्वेष के विकारी भाव, योग के कंपन आदि परिणामों को आत्मा स्वतंत्ररूप से पहुँचता है, किन्तु उन परिणामों को कर्म नहीं पहुँचता।

प्रश्न : करणानुयोग में कर्म को निमित्त बताने के लिए कथन आता है कि कर्म के उदय के कारण ज्ञान की हीनदशा हुई अथवा राग-द्वेष हुए। जहाँ ऐसा कथन आता है तो क्या वहाँ आत्मा दूसरे प्रकार का होगा? और जहाँ द्रव्यानुयोग में आत्मा शुद्धस्वभावी है ऐसा कहा है तो क्या वहाँ आत्मा करणानुयोग के आत्मा से पृथक् होगा?

समाधान : नहीं। द्रव्यानुयोग में द्रव्य-दृष्टि से अभेद शुद्ध आत्मा का कथन है और करणानुयोग में कर्म का निमित्त बताकर विकारी परिणाम तू करे तो होता है ऐसा बताते हैं। यहाँ कथन-शैली में अंतर है, आशय तो एक ही है। जो जीव अपनी पर्याय अर्थात् अंश को स्वतंत्र स्वीकार नहीं करता, वह अंशी ऐसे आत्मा की स्वतंत्रता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि अपनी पर्याय दूसरा कर दे ऐसी पराधीनता हो तो पर्याय स्वतंत्ररूप से स्वभाव की तरफ कभी नहीं झुक सकती। इसीलिए वास्तव में आत्मा अपने विकारी भाव का प्रतिजीवी गुणों की अशुद्ध अवस्था का, क्रियावती आदि शक्ति की अवस्था के सभी परिणामों का स्वयं ही

कर्ता है। कर्म का तीव्र उदय है, इसीलिए राग-द्वेष आदि परिणाम करने पड़े ऐसा नहीं कहा। स्वयं भावकर्म का कर्ता है, किन्तु जड़कर्म का तो कर्ता नहीं है।

प्रश्न : जब जीव भावकर्म का ही कर्ता है, तब द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है?

उत्तर : पुद्गल का परिणाम वास्तव में पुद्गल ही है; क्योंकि परिणामी ऐसा पुद्गल द्रव्य स्वयं ही परिणाम का कर्ता होने से परिणाम से पृथक् नहीं, किन्तु एकमेक है और पुद्गल का उसरूप परिणाम पुद्गलमय ही क्रिया है; क्योंकि सभी द्रव्य स्वयं अपनी परिणाम स्वरूप क्रिया को पहुँचते हैं, किन्तु दूसरे द्रव्य के परिणाम को नहीं पहुँचते।

प्रश्न : क्या ज्ञान-दर्शन हीन हुए; इसीलिए ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म बँधे? अथवा राग-द्वेष किये, इसीलिये मोहनीय कर्म बँधा?

उत्तर : नहीं। पुद्गल कर्म का बँधना राग-द्वेष के आधीन नहीं है। पुद्गल द्रव्य उसके पर्याय के समय में स्वतंत्ररूप से कर्मरूप परिणामित हो जाता है, किन्तु राग हुआ; इसीलिये पुद्गलों को आना पड़ा ऐसा पुद्गल द्रव्य पराधीन नहीं है।

राग-द्वेष स्वतंत्र हैं और पुद्गल कर्म भी स्वतंत्र है; कोई पराधीन नहीं है।

यह ज्ञेय अधिकार है। द्रव्यकर्म स्वतंत्ररूप से परिणामित होता है और जीव भी स्वतंत्ररूप से राग करता है ऐसा ज्ञेय का यथार्थ ज्ञान कराते हैं; इसीलिए वास्तव में पुद्गल द्रव्य ही द्रव्यकर्म का कर्ता है।

तथा पुद्गल द्रव्य आत्मा के अशुद्ध परिणाम का कर्ता नहीं है अर्थात् कर्म का उदय आया; इसीलिए आत्मा को परिणाम करना ही पड़ेगा ऐसा आत्मा पराधीन नहीं है; क्योंकि पुद्गल, पुद्गलरूप से परिणामित होता है, किन्तु पुद्गल आत्मा को परिणामित नहीं कराता।

अतः यह समझना चाहिए कि आत्मा आत्मस्वरूप से परिणामित होता है; किन्तु पुद्गलस्वरूप नहीं होता; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है। ●

प्रवचनसार गाथा १२३

अब, यह कहते हैं कि वह कौन-सा स्वरूप है, जिसरूप आत्मा परिणमित होता है?

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।

सा पुण णाणे कम्म फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥

(हरिगीत)

करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना ।

ये तीन इनके रूप में ही परिणमे यह आत्मा ॥१२३॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [चेतनया] चेतनारूप से [परिणमति] परिणमित होता है । [पुनः] और [चेतना] चेतना [त्रिधा अभिमता] तीन प्रकार से मानी गई है; [पुनः] और [सा] वह [ज्ञाने] ज्ञानसंबंधी [कर्मणि] कर्म संबंधी [वा] अथवा [कर्मणः फले] कर्मफल संबंधी [भणिता] ऐसी कही गयी है ।

टीका : जिससे चैतन्य वह आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना है, उससे चेतना ही आत्मा का स्वरूप है; उसरूप (चेतनारूप) वास्तव में आत्मा परिणमित होता है । आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो, वह सब ही चेतना का उल्लंघन नहीं करता, (अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित्मात्र भी नहीं छोड़ता बिना चेतना के बिलकुल नहीं होता) ऐसा तात्पर्य है । और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीन प्रकार की है । उसमें ज्ञानपरिणति (ज्ञानरूप से परिणति) वह ज्ञानचेतना, कर्मपरिणति वह कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति वह कर्मफलचेतना है ।

गाथा १२३ पर प्रवचन

अब, आत्मा जिस स्वरूप परिणमित होता है, वह कौन-सा स्वरूप है, वह कहते हैं

ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना यह आत्मा का ही परिणाम है ।

१. स्वधर्मव्यापकपना = निजधर्मों में व्यापकपना ।

चेतना तीन प्रकार की है । ज्ञानसंबंधी जागृति ज्ञानचेतना है; विकार परिणाम में चेतना का अटक जाना कर्मचेतना है और हर्ष-शोकरूप भावों में चेतना का अटक जाना कर्मफलचेतना है ।

चेतना स्वभाववान है और चैतन्य जीव का स्वभाव है गुण है । चैतन्य आत्मा के सभी धर्मों में व्यापक है । (यहाँ धर्म का अर्थ शुद्धि अथवा निर्जरा नहीं समझना, अपितु पर्यायस्वभाव समझना) इसलिये चेतना ही आत्मा का स्वरूप है । आत्मा स्वयं चेतनारूप परिणमित होता है । आत्मा के कोई भी परिणाम चेतना को नहीं छोड़ते । चैतन्यस्वभाव स्वयं विस्तार पाकर ज्ञानरूप परिणमित होता है । आत्मा कर्ता होकर राग-द्वेषरूपी कर्मरूपी परिणमित होता है और हर्ष-शोक के फलरूप परिणमित होता है ।

गाथा ११६ में कहा था कि क्रिया चेतन का पूर्वोत्तर दशा से विशिष्ट चैतन्य परिणाम स्वरूप है । काम, क्रोध, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतिभाव, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, शुक्ललेश्या के परिणाम, योग-कंपन आदि सभी परिणाम, चाहे वे शुद्ध हों अथवा अशुद्ध हों कोई भी परिणाम चेतना का उल्लंघन करके नहीं होते । इसीप्रकार दूसरे जीव के कारण अथवा कर्म के कारण किसी के परिणाम नहीं होते । आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को नहीं छोड़ता ।

प्रश्न : समयसार में मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि को अचेतन कहा है और यहाँ कहा है कि ये सभी परिणाम चेतना को नहीं छोड़ते?

समाधान : भाई, विकारी परिणाम और अशुद्धता जो अपना त्रिकाली स्वरूप नहीं है और आत्मा में से निकल जाते हैं; इसलिए उनका लक्ष्य छुड़ाने के लिए और त्रिकाली स्वभाव की रुचि कराने के लिए समयसार में उन्हें अचेतन कहा है, किन्तु ऐसा कौन कह सकता है? कि जो पर्याय में होनेवाला विकार आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से कर्ता है ऐसा यथार्थ मानकर त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य कर सकता है, वही कह सकता है ।

यहाँ प्रवचनसार में पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराना है । ज्ञानरूप परिणामन में भी तू, रागरूप परिणामन में भी तू और हर्ष-शोक के भावरूप परिणामन में भी तू ही है । कर्म के कारण तेरे परिणाम नहीं होते । इसप्रकार स्वपर्याय

जो ज्ञेय है, उसका ज्ञान कराते हैं।

इसप्रकार संसार में पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के अशुद्ध परिणाम जीव के हैं। ऐसा इस गाथा का तात्पर्य है, किन्तु कर्म के कारण आत्मा की अशुद्धता है। ऐसा इस गाथा का तात्पर्य नहीं है।

तथा विकार तेरा है, विकार तेरा है ... ऐसा बताकर भी तू विकार में खड़ा रहना। ऐसा विकार में खड़े रखने का शास्त्र का तात्पर्य नहीं, अपितु द्रव्य-गुण जो कि शुद्धस्वरूप ही हैं, उनका लक्ष्य करें तो विकार और संसार दूर हो जायेगा। ऐसा कहने का शास्त्र का तात्पर्य है।

इसप्रकार तात्पर्य दो प्रकार है

(१) सूत्र तात्पर्य : प्रत्येक गाथा में जिसप्रकार गाथा का अर्थ स्वतंत्र होता है, इसीप्रकार बराबर समझना। जैसे कि इस गाथा में राग-द्वेष अशुद्धता का आत्मा स्वयं कर्ता है, किन्तु अन्य कर्म अथवा आत्मा इसे नहीं कराता। ऐसा गाथा का यथार्थ भाव समझना यह सूत्र तात्पर्य है।

(२) शास्त्र तात्पर्य : प्रत्येक गाथा का यथार्थ भाव समझकर सम्पूर्ण शास्त्र का क्या भाव है। यह समझना, वह शास्त्र तात्पर्य है। दृष्टान्त यहाँ गाथा में कहा कि अशुद्धता का परिणाम जीव स्वयं स्वतंत्ररूप से कर्ता है।

इतना सूत्र का भाव समझना; किन्तु स्वयं अशुद्ध परिणाम कर्ता हैं, इतना मात्र ज्ञान कर ले और द्रव्य-गुण जो शुद्ध है, उसकी दृष्टि करके वीतरागी परिणाम प्रगट करने योग्य है। ऐसा न समझे, सम्पूर्ण शास्त्र का सार न समझे तो उसने शास्त्र तात्पर्य नहीं समझा।

शास्त्र का तात्पर्य परिपूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान है, किन्तु जो जीव सूत्र तात्पर्य समझने में भूल करता हो और पर्याय को पराधीन मानता हो, वह शास्त्र तात्पर्य को नहीं समझ सकता और वीतरागता प्रगट नहीं कर सकता; और जो अकेले सूत्र तात्पर्य में ही रुक जाये और शास्त्र तात्पर्य को नहीं समझे और वीतरागता प्रगट न करे तो वह भी सूत्र के तात्पर्य को सही प्रकार से समझा। ऐसा नहीं कहा जायेगा।

सूत्र तात्पर्य को यथार्थ समझकर सम्पूर्ण शास्त्र का तात्पर्य जो सम्यग्दर्शन पूर्व वीतरागी दशा है, उसे प्रगट करना। ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं।

चेतना तीन प्रकार की है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना।

ज्ञान चेतना : स्वयं ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभावी है; शरीर, कर्म, परपदार्थ मेरे नहीं और विकार मेरा स्वरूप नहीं, इसप्रकार और विकार से भेद करके जो ज्ञान की परिणति अभेदस्वभाव की प्रतीति करके स्थिर होती है, वह ज्ञानचेतना है और वह आत्मा का धर्म है।

कर्मचेतना : आत्मा स्वयं ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है। ऐसा भान नहीं करने पर परपदार्थ की क्रिया करने रूप भाव तथा पुण्य-पाप के विकारी भावरूप कार्य, वह कर्मचेतना है। ज्ञान का विकारी परिणाम में अटक जाना, वह कर्मचेतना है। यह अधर्मभाव है।

कर्मफलचेतना : आत्मा स्वयं सुख और आनंदस्वरूप है। ऐसा भान नहीं करने पर सुख और आनंद का भोग नहीं करने पर हर्ष-शोक में उत्साह वर्तते हुए हर्ष-शोक का भोग करना कर्मफलचेतना है, यह भी अधर्मभाव है।

चेतना के ये तीन प्रकार हैं; इनका विशेष अर्थ अब आगे की गाथा में कहेंगे।

सम्पूर्ण ज्ञानचेतना केवली भगवान को होती है, साधक दशा में मुख्यरूप से ज्ञानचेतना होती है, अस्थिरता के राग-द्वेष में तथा हर्ष-शोक में जितना जुड़ान है, उतनी कर्म चेतना और कर्मफल चेतना गौणरूप से कही गई है।

मिथ्यादृष्टि को ज्ञानचेतना नहीं होती। उसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ही होती है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना एक ही समय में है। आत्मा जिस समय विकार भाव करता है, उसी समय हर्ष-शोक को भोगता है। यहाँ पर पदार्थ को भोगने की बात ही नहीं है; क्योंकि पर को जीव नहीं भोग सकता, हर्ष-शोक को भोगता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व में समयभेद नहीं है, दोनों एक ही समय में है; इसतरह आत्मा चेतनारूप परिणमित होता है, वह तीनप्रकार की कही है। ●

प्रवचनसार गाथा १२४

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं :

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारब्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥१२४॥
(हरिगीत)

ज्ञान अर्थविकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है ।

अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुःख हैं ॥१२४॥

अन्वयार्थः [अर्थविकल्पः] अर्थविकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक युगपत् अवभासन) [ज्ञानं] वह ज्ञान है; [जीवेण] जीव के द्वारा [यत् समारब्धं] जो किया जा रहा हो [कर्म] वह कर्म है, [तद् अनेकविधं] वह अनेक प्रकार का है; [सौख्यं वा दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [फलम् इति भणितम्] वह कर्मफल कहा गया है ।

टीका : प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है । वहाँ, अर्थ क्या है? स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित वह 'विश्व यह अर्थ है । उसके आकारों का 'अवभासन वह विकल्प है और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है ।

जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है । प्रतिक्षण उस-उस भाव से होता हुआ आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जानेवाला जो उसका भाव है; वही, आत्मा के द्वारा 'प्राप्य होने से कर्म है । और वह (कर्म) एक प्रकार का होने पर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और

१. विश्व = समस्त पदार्थ-द्रव्य-गुण-पर्याय । (पदार्थों में स्व और पर ऐसे दो विभाग हैं । जो जाननेवाले आत्मा का अपना हो, वह स्व है और दूसरा सब, पर है ।)

२. अवभासन = अवभासन; प्रकाशन; ज्ञात होना; प्रगट होना ।

३. आत्मा अपने भाव को प्राप्त करता है, इसलिये वह भाव ही आत्मा का कर्म है ।

असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है ।

उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख वह कर्मफल है । वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण 'प्रकृतिभूत सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल 'विकृति - (विकार) भूत दुःख है, क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है ।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित हुआ ।

भावार्थ : जिसमें स्व, स्वरूप से और पर, पर-रूप से (परस्पर एकमेक हुए बिना, स्पष्ट भिन्नतापूर्वक) एक ही साथ प्रतिभासित हो, सो ज्ञान है ।

जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव वह (जीव का) कर्म है । उसके मुख्य दो भेद हैं (१) निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म और (२) औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म ।

इस कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख कर्मफल है । वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त न होने से जो निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म होता है, उसका फल तो अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसा स्वभावभूत सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त होने से जो औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुःख है; क्योंकि उसमें अनाकुलता नहीं, किन्तु आकुलता है ।

इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल स्वरूप कहा गया ।

गाथा १२४ पर प्रवचन

अब, ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वरूप कहते हैं :

ज्ञानचेतना का स्वरूप : पदार्थों का भेदपूर्वक ज्ञान होना, वह ज्ञान

१. प्रकृतिभूत = स्वभावभूत । (सुख स्वभावभूत है ।)

२. विकृतिभूत = विकारभूत (दुःख विकारभूत है, स्वभावभूत नहीं है ।)

है। समस्त पदार्थों में स्व और पर ऐसे दो भाग हैं। जो जाननेवाला आत्मा का अपना होता है, वह स्व है और सभी पर हैं। वे पदार्थ जैसे हैं, वैसा जानना, उसे विकल्प कहते हैं। यहाँ राग-द्वेष को विकल्प नहीं कहा, अपितु वि = विशेषपूर्वक; कल्प = जानना अर्थात् भेदपूर्वक जानने को विकल्प कहते हैं।

भावार्थ : जिसमें स्व, स्वरूप से और पर, पररूप से (परस्पर एकमेक हुए बिना, स्पष्ट भिन्नतापूर्वक) एक ही साथ प्रतिभासित हो, सो ज्ञान है।

यहाँ आकार का अर्थ व्यंजनपर्याय नहीं, अपितु आकार अर्थात् विशेषताएँ हैं। यह ज्ञेय-अधिकार है, इसमें स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय स्व ज्ञेय हैं और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय परज्ञेय हैं दोनों को विशेषता से जानना, उसे विकल्प कहते हैं। ज्ञान का ही स्वभाव विकल्प है; इसलिए केवलज्ञान को भी विकल्पात्मक कहने में आया है।

जिसतरह दर्पण के अपने विस्तार में स्व और पर के भेद एक ही साथ जानने में आते हैं, इसीतरह जिसमें स्व और पर उनके भेदसहित युगपत् जानने में आते हैं, उसे अर्थ विकल्प कहते हैं अथवा ज्ञानचेतना कहते हैं।

कोई कहता है कि हमने अकेले आत्मा को जाना है, किन्तु विकार और परपदार्थों को नहीं जाना अथवा वे ख्याल में नहीं आते तो उसने आत्मा को भी यथार्थ नहीं जाना, वह ज्ञानचेतना नहीं कहलाती। और कोई कहे कि हमने परपदार्थ और निमित्तों को तथा विकार को जाना है, किन्तु हमें आत्मा का ख्याल नहीं आता तो उसने पर-पदार्थों को भी यथार्थ नहीं जाना, उसे भी ज्ञानचेतना नहीं कहलाती।

स्व को यथार्थ जानने पर, परपदार्थ जानने में न आए ऐसा होता ही नहीं और स्व के भान बिना एकांत परसंबंधी ज्ञान के उघाड़ को मिथ्याज्ञान कहते हैं।

स्वयं ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धस्वभावी वस्तु है। परजीव और पुद्गल पदार्थ, अन्य वस्तुएँ भी हैं, उनसे यह आत्मा पृथक् है। यह आत्मा शक्तिस्वरूप

परिपूर्ण है, किन्तु पर्याय में स्वयं के कारण राग-द्वेष हैं; राग-द्वेष पर के लक्ष्य से होते हैं, उसमें जड़कर्म निमित्त होते हैं और जड़कर्म के निमित्त से अन्य नोकर्म आदि पदार्थ मिलते हैं। स्व के लक्ष्य से संवर प्रगट करके शुद्धता हो सकती है। इसतरह बाहर के पदार्थों में स्व और पर को पहचानना चाहिए। इसीतरह मैं अपने में ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावी परिपूर्ण हूँ और विकारी अथवा अधूरी अवस्था पर है इसप्रकार स्व-पर की पहचानपूर्वक यथार्थ ज्ञान को ज्ञानचेतना कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर का ज्ञान युगपद् होता है। जब धर्मी जीव का उपयोग परपदार्थों में होता है, तब स्व का ज्ञान पर्याय में लब्धिरूप पड़ा है। ज्ञान की पर्याय लब्धि को छोड़कर एकांत पर-उपयोगरूप नहीं हुई है और जब उपयोग स्व आत्मा में होता है, तब परपदार्थ का ज्ञान पर्याय में लब्धिरूप पड़ा है, यह ज्ञान की पर्याय लब्धि को छोड़कर एकांत स्व-उपयोगरूप नहीं हुई है।

ज्ञान का लब्धि और उपयोगपना एक ही पर्याय में और एक ही समय में है; इसीलिए साधक अर्थात् धर्मी जीवों को स्व-पर पदार्थों का प्रकाशित होना अर्थात् ज्ञान होना युगपत् है, एक ही समय में है, समय भेद नहीं है। स्व-पदार्थ के उपयोगरूप ज्ञान के समय पर के लब्धिरूप ज्ञान का नाश नहीं होता, अपितु पर के लब्धिरूप ज्ञान का उसी पर्याय में उसीसमय सद्भाव है और पर-पदार्थ के उपयोगरूप ज्ञान के समय स्व के लब्धिरूप ज्ञान का नाश नहीं होता, अपितु स्व के लब्धिरूप ज्ञान का उसी पर्याय में उसी समय सद्भाव है; इसीलिए साधक दशा में भी ज्ञानचेतना युगपत् स्व-पर को प्रकाशित करती है।

इसप्रकार आत्मा और पर-पदार्थों का यथार्थ विभाग करके जो ज्ञान की पर्याय आत्मा के साथ अभेद होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

कर्मचेतना : आत्मा द्वारा जो परिणाम होते हैं, उस परिणाम को कर्म कहते हैं। दया-दान के विकारी भाव अथवा ज्ञान-दर्शन की शुद्धता के परिणाम आत्मा स्वयं ही करता है और उन विकारी अथवा अविकारी

भावों को आत्मा स्वयं ही पहुँचता है; इसीलिए वे आत्मा के कर्म हैं। जड़-कर्म तथा अन्य पदार्थ उन भावों को नहीं पहुँचते।

कर्म का सद्भाव है, इसीलिए जीव विकारी होता है और कर्म का अभाव होता है; इसीलिए वीतरागी होता है। ऐसा आत्मा का भाव पराधीन नहीं है। रागी अथवा अरागी परिणाम को आत्मा स्वयं ही पहुँचता है, इसीलिए वे परिणाम आत्मा के कर्म हैं। कर्म अथवा कार्य एक ही प्रकार का है, फिर भी द्रव्यकर्मरूप उपाधि की समीपता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेकप्रकार का है। मूल गाथा में तो कर्म की अर्थात् कार्य की ही बात की है। टीका में स्पष्टता करके विकारी परिणामरूप कर्म के समय द्रव्यकर्म का सद्भाव और अविकारी कर्म के समय द्रव्यकर्म का अभाव बताकर निमित्त का भी ज्ञान कराया है। कर्म के दो प्रकार कहे गये हैं :

(१) आत्मा अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव की श्रद्धा करके शुद्धदशारूप परिणमित होता है, तब द्रव्यकर्म का अभाव होता है। कर्म का अभाव है; इसीलिए शुद्धदशा हुई है। ऐसा नहीं है, अपितु शुद्धदशा होती है, तब द्रव्यकर्म का अभाव उनके कारण होता है। ऐसा ज्ञान कराया है; यह आत्मा का अविकारी शुद्ध कर्म है और यह धर्म का कारण है।

(२) आत्मा अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को छोड़कर दया-दान आदि पुण्य-पापरूप विकारी कार्यरूप परिणमित होता है, तब द्रव्यकर्म की एक क्षेत्रावगाही निकटता होती है।

कर्म निकट है, इसीलिए राग-द्वेषरूपी कार्य होता है। ऐसा नहीं है; अपितु स्वयं राग-द्वेषरूपी कार्य करता है, तब द्रव्यकर्म निमित्तरूप उनके कारण होते हैं। ऐसा ज्ञान कराया है और ये आत्मा के विकारी अशुद्ध कर्म हैं, जो अधर्म का कारण है।

कर्मफलचेतना : उन कर्मों के द्वारा अर्थात् परिणामों द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले सुख अथवा दुःख कर्मफल हैं। परपदार्थ को भोगने की बात ही नहीं है, क्योंकि पर पदार्थ को आत्मा नहीं भोग सकता। आत्मा

अपने विकारी भाव हर्ष-शोक आदि को भोगता है अथवा ज्ञाता-दृष्टा सुखस्वरूप निर्विकारीभाव को भोगता है।

कर्मफलचेतना के दो प्रकार कहे गये हैं :

(१) स्वयं ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी वस्तु है। ऐसी श्रद्धा करके अपने ज्ञानस्वभाव में ठहरने पर अंतर में निराकुलता प्रगट होती है, यह स्वाभाविक सुख है। वीतरागी शांति प्रगट हुई है, द्रव्यकर्म का अभाव हुआ; इसीलिए वीतरागी सुख प्रगट नहीं हुआ है, अपितु आत्मा के आनंद के समय द्रव्यकर्म का अभाव होता है। इसप्रकार यहाँ निमित्त के असत् भाव का ज्ञान कराया है। यह आत्मा का सहज आनंदस्वरूप सुख है और यह धर्म का फल है।

(२) आत्मा स्वयं ज्ञाता-दृष्टा सुख स्वरूप और आनंदस्वरूप है, इस सुख और आनंद को भूलकर परपदार्थ में सुख और आनंद मानकर हर्ष-शोक की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। वे पदार्थ हर्ष-शोक का भोग नहीं कराते; अपितु जीव स्वयं के कारण अनुकूलता के भाव को भोगता है, तब द्रव्यकर्म निमित्तरूप होता है। कर्मों ने भोग दिया, यह बात ही नहीं; अपितु स्वयं आकुलता को भोगता है, तब कर्म निमित्त रूप होते हैं। ऐसा ज्ञान कराया है। यह आत्मा का विकारभूत दुःख है। आकुलता है; क्योंकि वहाँ आनन्दस्वरूप का अभाव है; वहाँ वीतरागी शांति नहीं है। आकुलता अधर्म का फल है।

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में समयभेद नहीं है अर्थात् जिससमय कर्मचेतना विकाररूप है, उसीसमय कर्मफलचेतना आकुलता के फलरूप परिणमित होती है और जब कर्मचेतना अविकाररूप है, उसीसमय कर्मफल चेतना शांति के फलरूप परिणमित होती है।

ज्ञानचेतना और शुद्ध अविकारी भावकर्मरूप कर्मचेतना दोनों में शुद्धता के परिणाम हैं। अभेद अपेक्षा से दोनों में अंतर नहीं; किन्तु ज्ञान गुण की मुख्यता से ज्ञान स्व-पर का विवेक करके आत्मा में अभेद होता है, इस ज्ञानपर्याय को ज्ञानचेतना कहते हैं और कर्ता गुण की मुख्यता से

कहा जाता है कि आत्मा अपने निर्मल पर्यायरूप शुद्धता का कर्ता है, इस अपेक्षा से वह शुद्ध भावरूप कर्म अथवा अविकारी कर्मचेतना कहलाती है और कर्मफलचेतना अथवा जिसे स्वाभाविक सुख कहते हैं, वह शुद्धता के परिणाम का फल है और वह भोक्ता गुण की मुख्यता से कहने में आता है। ज्ञान करनेवाला, निर्मल पर्याय का (शुद्धता का) करनेवाला और निराकुल सुख का भोगनेवाला अभेद अपेक्षा से आत्मा एक ही है; किन्तु गुणभेद की अपेक्षा से पृथक् भेद दर्शाया है।

इसप्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का स्वरूप कहा है।

भावार्थ पर प्रवचन

ज्ञानचेतना आत्मा स्व है और शरीर, कर्म आदि पदार्थ पर हैं ऐसे भेदपूर्वक ज्ञान होता है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। जड़ से विकार होता है और विकार होता है; इसीलिए कर्म को आना पड़ेगा ऐसी विपरीत दृष्टिवाले जीव को ज्ञानचेतना नहीं होती। जीव निर्विकाररूप परिणामित हो, यह भी स्वतंत्र है और जड़कर्म दूर हो, वह भी स्वतंत्र है। इसप्रकार स्व-पर की स्पष्टतापूर्वक पहचान करने को ज्ञानचेतना कहते हैं।

कर्म का स्वरूप : जीव से होनेवाले विकारी अथवा अविकारी परिणाम दोनों जीव के कार्य हैं अर्थात् भावकर्म हैं, उनके दो प्रकार हैं :-

(१) **शुद्ध भावरूप कर्म :** आत्म ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है ऐसे भानपूर्वक आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के शुद्ध पवित्र वीतरागी परिणाम शुद्धभावरूप कर्म हैं। शुद्धभावरूप कर्तव्य कार्यरूपी आत्मा की दशा है, यहाँ जड़ की बात नहीं। जड़कर्म तो आत्मा से पृथक् हैं। स्वाभाविक शुद्ध भावरूपी कर्म, आत्मा का धर्म है।

(२) **औपाधिक-शुभाशुभ भावरूप कर्म :** दया, दान, व्रत, पूजा के भाव तथा हिंसा, झूठ, चोरी के परिणाम अरूपी औपाधिक-शुभाशुभ भाव हैं। यहाँ जड़कर्म की बात नहीं है। इसीतरह जड़कर्म आत्मा को ये

भाव नहीं कराते। अशुभभाव उपाधि है, किन्तु शुभभाव भी उपाधि है। आत्मा स्वयं विकाररूप परिणामित होता है और परलक्ष्य से करता है; इसीलिए वह औपाधिक-शुभाशुभ भाव कर्म है और वह अधर्म है।

इस कर्म द्वारा अर्थात् ऊपर कहे गये शुभभावरूप कर्म द्वारा उत्पन्न हुआ सुख अथवा दुःख कर्मफल है, ये दो प्रकार के हैं :

(१) **स्वभावभूत सुख :-** जब जीव का द्रव्यकर्म में जुड़ान नहीं होता, तब अपने आत्मा के आश्रय से जो उपाधिरहित शुद्ध परिणाम प्रगट होता है वीतरागी दशा प्रगट होती है, उसका फल स्वभावभूत सुख है कि जिसका लक्षण निराकुलता है। आत्मा के आश्रय से मन और पुण्य के अवलंबन रहित शुद्ध कार्य होता है, उसका फल शांति और आनंद है। शुद्धता के परिणाम का अर्थात् धर्म का फल अबंध है। परिणाम और फल एक ही समय में है।

(२) **विकारभूत दुःख :** जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलता है और द्रव्य कर्मरूप उपाधि तरफ लक्ष्य करके शुभाशुभभाव करता है, वह औपाधिक शुभाशुभ भावरूप कर्म है। अशुभभाव तीव्र है और शुभभाव मंद दशा है। अशुभ से बचने के लिए शुभ आये, किन्तु वह सुख नहीं है। दुःख को सुखरूप मानना, मिथ्यात्व है। जिस समय शुभाशुभ भाव कर्ता है, उसी समय दुःख है; भविष्य में दुःख आयेगा, उसकी तो बात ही नहीं। अपने शांतस्वभाव को भूलकर विकल्प उठता है, फिर वह अशुभ हो अथवा शुभ हो, वह वृत्ति का उत्थान ही दुःखरूप है। शुभाशुभभावों का फल अर्थात् अधर्म का फल आकुलता है, शुभाशुभभाव और उनका फल एक ही समय में है आगे-पीछे नहीं।

इसतरह ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप कहा है। ●

प्रवचनसार गाथा १२५

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं :

अप्या परिणामप्या परिणामो णाणकम्मफलभावी ।

तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥

(हरिगीत)

ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम तीन प्रकार हैं।

आत्मा परिणाममय परिणाम ही हैं आत्मा ॥१२५॥

अन्वयार्थ : [आत्मा परिणामात्मा] आत्मा परिणामात्मक है; [परिणामः] परिणाम [ज्ञानकर्मफलभावी] ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं कर्म फलं च] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [आत्मा ज्ञातव्यः] आत्मा है ऐसा समझना।

टीका : प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि परिणाम स्वयं आत्मा है ऐसा (११२वीं गाथा में भगवत् आचार्य कुन्दकुन्द ने) स्वयं कहा है; तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होने का स्वभाववाला है; क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्ममलमय) होती है। इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।

इसप्रकार वास्तव में शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य के सम्पर्क का (सम्बन्ध; संग) असंभव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।

गाथा १२५ पर प्रवचन

अब, ज्ञान कर्म और कर्म फल को आत्मारूप निश्चित करते हैं :-

आत्मा परिणामस्वरूप है। परिणाम अथवा पर्याय तीनप्रकार की हैं :

१. प्रलीन हो जाना = अत्यंत लीन हो जाना; मग्न हो जाना; डूब जाना; अदृश्य हो जाना।

(१) स्वयं ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभावी है ऐसे ज्ञानरूप परिणाम करे, वह ज्ञानरूप है।

(२) स्वयं अविकारी कार्यरूप अथवा विकारी कार्यरूप परिणामित हो, वह कर्मरूप है।

(३) स्वयं अविकारी-शांति के फलरूप अथवा विकारी-आकुलतारूप परिणामित हो, वह कर्मफलरूप परिणाम है।

यह ज्ञेय-अधिकार है। यहाँ स्व पर्याय जो ज्ञेय है, उसकी अलग-अलग अवस्था का ज्ञान कराते हैं।

शुभाशुभ परिणाम वे स्वयं आत्मा ही हैं।

आत्मा नित्य परिणामी है, स्वयं ध्रुव रहकर बदलता है। स्वयं का नाश होकर बदलना नहीं होता, अपितु कायम रहकर बदलता है। कर्म से नहीं बदलता, स्वयं बदलने के स्वभाववाला है। विकाररूप होना अथवा अविकार रूप होना आत्मा का स्वभाव है।

प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं गाथा ११२ में कहा है कि परिणाम स्वयं आत्मा है, परिणाम चेतनास्वरूप है, इसीलिए

१. जब जीव ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से परिणामित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् ज्ञानमय होती है, चेतना परिणाम से पृथक् नहीं होती।

२. जब जीव विकारी अथवा अविकारी कार्यरूप परिणामित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् विकारी कर्ममय अथवा अविकारी कर्ममय होती है, चेतना उस परिणाम से पृथक् नहीं होती।

३. जब जीव आकुलता के फलस्वरूप अथवा शांति के फलरूप परिणामित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् आकुलतामय अथवा शांतिमय होती है। चेतना उस फल से पृथक् नहीं होती।

आकुलता इसी क्षण है। संयोग प्रतिकूल मिलें अथवा अनुकूल मिलें, उस सुख-दुःख के फल की यहाँ बात ही नहीं है; क्योंकि वे तो परपदार्थ हैं। उसे तो आत्मा मिला भी नहीं सकता और भोग भी नहीं

सकता। स्त्री-कुटुंब में सुख नहीं होने पर भी, वे पदार्थ हों तो मुझे सुख हो ऐसा अज्ञानी का भाव स्वयं ही दुःखस्वरूप है।

अशुभभाव और शुभभाव दोनों ही दुःखरूप हैं, अशुभ से बचने के लिए शुभ आता है यह अलग बात है, किन्तु शुभ सुख का कारण है ऐसा कभी नहीं हो सकता। पुण्य-पाप दोनों दुःख हैं। परपदार्थ में सुख नहीं, पुण्य में भी सुख नहीं, किन्तु अपना ज्ञाता-द्रष्टा सुखस्वभाव है ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करना सुख है। जिस समय परिणाम हुआ, उसी समय उसका फल है। कर्ता, भोक्तापना एक ही समय में अपनी पर्याय में है, बाहर के पदार्थ में कर्ता भोक्तापना है ही नहीं।

प्रश्न : शरीर किसतरह चलता है?

उत्तर : शरीर अजीव पुद्गल द्रव्य है। उस जड़पदार्थ में भी अनंत शक्तियाँ हैं; अतः वह उसकी क्रियावती शक्ति के कारण चलता है, इसीलिए आत्मा से शरीर चलता है ऐसा मानना भूल है। आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं और दोनों की पर्यायें भी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो जब आत्मा निकल जाता है, तब शरीर क्यों नहीं चलता?

उत्तर : शरीर पुद्गल द्रव्य है, उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों हैं। शरीर और आत्मा एक क्षेत्रावगाह हो अथवा न हो तो भी शरीर के हिलने-चलनेरूप अवस्था अथवा स्थिर रहनेरूप अवस्था स्वयं उसके द्रव्य-गुण के कारण होती है, किन्तु आत्मा के कारण शरीर में कुछ नहीं होता। आत्मा इच्छा करता है तो भी कितनी ही बार पक्षाघात (लकवा) अथवा अन्य किसी कारण से शरीर नहीं चलता ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है अर्थात् आत्मा की उपस्थिति से शरीर के चलने का प्रश्न ही नहीं रहता। आत्मा होता है, फिर भी बहुत बार शरीर चलता हुआ दिखाई नहीं देता, अपितु स्थिर दिखाई देता है। शरीर उनके परमाणु का स्कंध है, उसकी एक-एक अवस्था स्वयं उसके कारण होती है, आत्मा के कारण नहीं।

जगत को ईश्वर ने बनाया है ऐसा माननेवाला जीव भ्रांति में है।

उसने पदार्थों को स्वतंत्र नहीं माना, इसीलिये उसे धर्म नहीं होता; इसी तरह आत्मा शरीर की क्रिया का कर्ता है ऐसा माननेवाला जीव भी ऐसी ही भ्रांति में है; क्योंकि जीव और शरीर दोनों पृथक् स्वतंत्र पदार्थ हैं

ऐसा वह नहीं मानता, इसीलिये उसे भी धर्म नहीं होता। जगतकर्ता ईश्वर की मान्यता नहीं होने पर भी जो जीव शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा को मानता है, वह बाह्य से जैन होने पर भी उसमें और जगत-कर्ता ईश्वर की मान्यतावाले जीव में कोई अंतर नहीं है, वह भी भ्रांति में है और उसे धर्म बिलकुल भी नहीं होता।

प्रश्न : कर्ता तो तुम भी कहते हो?

उत्तर : भाई, शरीर की कोई भी क्रिया का आत्मा कर्ता नहीं है। जड़ से आत्मा का कार्य होता है और आत्मा से जड़ का कार्य होता है ऐसा मानना अधर्म है। आत्मा अरूपी ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि शक्तियों का पिण्ड है, उसका ज्ञान करे तो आत्मा ज्ञान की पर्याय का कर्ता है और अज्ञान करे तो आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता है तथा पर्याय में सुख-दुःख के फल को आत्मा भोगता है, किन्तु जड़पदार्थ जैसे कि रोटी, दाल, भात को जीव नहीं भोगता, अपने संकल्प-विकल्प तथा आकुलता को भोगता है। जड़ की क्रिया मेरी नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करें तो निराकुल शांति को आत्मा को भोगता है। आत्मा निश्चय से अथवा व्यवहार से भी परपदार्थों का कर्ता-भोक्ता है ही नहीं।

यह आत्मा परपदार्थों से पृथक् है ऐसा निर्णय करते ही शुद्ध द्रव्य का निर्णय होता है। परपदार्थ के सामने देखना नहीं रहा और स्वपरिणति स्वयं से होती है, उसका यथार्थ ज्ञान स्व के भान बिना नहीं हो सकता; इसतरह वास्तव में शुद्धद्रव्य के कथन में परद्रव्य के सम्पर्क का अभाव है। आत्मा अनंत शक्तियों का पिण्ड है; परद्रव्य के सम्पर्क का अभाव होने से अनंत गुणों का परिणमन उस आत्मा का स्वयं का है ऐसा निर्णय होने पर द्रव्य-गुण शुद्ध हैं, इसका ख्याल आने पर, विकारी पर्याय का लक्ष्य छूट जाता है और द्रव्य की दृष्टि होती है। द्रव्यदृष्टि होने पर विकारी पर्याय गौण होती है और अविकारी पर्याय द्रव्य के साथ

अभेद होती है। यह विकारी पर्याय है और उसे दूर करके अविकारी पर्याय प्रगट करूँ ऐसा भी नहीं रहता; क्योंकि द्रव्य तरफ एकाकार होने पर अविकारी पर्याय प्रगट होती है और वह द्रव्य के साथ अभेद होती है।

ध्रुव-सादृश्य स्वभाव स्वयं ही पर्यायदृष्टि से विसदृश्यरूप होकर परिणमित हुआ है, अज्ञानदशा में स्वयं राग के कर्तारूप परिणमित होता हुआ और राग मेरा कार्य है ऐसा मानता हुआ और हर्ष-शोक के भोगरूप स्वयं परिणमित होता हुआ, ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव की दृष्टि होने पर ज्ञातारूप परिणमित हुआ, शुद्धभावरूप परिणमित हुआ और निराकुल सुख को भोगने लगा, वहाँ यह आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है।

निमित्त, कर्म और संयोग हो तो विकार होता है और संयोग तथा कर्म दूर हो तो विकार दूर हो ऐसी जिसकी विपरीतदृष्टि है, वह जीव संयोग के सामने ही देखा करता है, किन्तु आत्मा वस्तु है, शक्तिमान है, उसकी अनंत शक्तियाँ हैं और शुद्ध अथवा अशुद्ध इसकी पर्याय है इसप्रकार तीन होकर अपना अखण्ड द्रव्य है, उसके सामने वह नहीं देखता अर्थात् उसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती।

स्व की प्रतीति बिना द्रव्य-गुण-पर्याय की अखण्डता का ख्याल नहीं आ सकता और विकार मेरे स्वयं के कारण है ऐसा निर्णय किये बिना स्व की प्रतीति नहीं होती।

आत्मा में परवस्तु का अभाव है। परवस्तु को गौण करना नहीं रहता। विकारी पर्याय अपना एक समय मात्र का भाव है, उसे गौण कर देना है। वस्तु अत्यंत अभावरूप हो तो वह किसतरह गौण करी जाये? जैसे शुद्ध द्रव्य की मुख्यता से राग-द्वेषादि को गौण करके व्यवहार कहकर द्रव्यदृष्टि कराने के लिए राग-द्वेष को समयसार में अभूतार्थ कहा है; राग-द्वेष का सर्वथा अभाव है ऐसा नहीं कहा। प्रयोजनवश राग को गौण किया है।

गौण-मुख्य न हो तो साधक दशा नहीं रहती, केवलज्ञान होना चाहिए। केवली भगवान को मुख्य-गौण नहीं होता, क्योंकि वीतराग को सही संपूर्ण प्रमाणज्ञान वर्तता है, किन्तु साधक दशा में मुख्य-गौण

होता है; परन्तु यथार्थरूप से मुख्य-गौण कौन कर सकता है? जो जीव ऐसा मानता है कि पर्याय अर्थात् अंश वह अंशी का है, पर के कारण नहीं। ध्रुव सामान्य है और उत्पाद व व्यय सामान्य के ही विशेष हैं इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की अखण्डता का यथार्थ ज्ञान इस प्रवचनसार में कहा है ऐसा यथार्थ ज्ञान करें तो वही जीव समयसार में कहे अनुसार द्रव्यदृष्टि करने के लिए अवस्था के राग-द्वेष को गौण करता है और द्रव्य-गुण शुद्ध हैं, उसकी दृष्टि करता है और यह दृष्टि होने पर निर्मलतारूप पर्याय प्रगट होती है, यह आत्मा के साथ अभेद होती है। यह द्रव्य है और यह शुद्ध पर्याय है ऐसा भेद भी नहीं रहता।

इसतरह पर्याय द्रव्य के अंदर अत्यंत लीन हो जाने से आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है।

आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है। इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में यहाँ द्रव्य सामान्य का निरूपण चलता है, इसमें आत्मा का ज्ञेयभूतरूप समावेश किया गया है। आत्मा के द्रव्य-गुण और विकारी अथवा अविकारी पर्याय तीनों होकर सम्पूर्ण आत्मा ज्ञेयरूप है। उसे ज्ञान ने जाना है। ऊपर कहे अनुसार ज्ञेय को जानने पर और आत्मा की शुद्धता का निश्चय करने पर ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होती है।

विकार कर्म के कारण होता है, यदि ऐसा माना जाये तो ज्ञेय स्वतंत्र नहीं रहता। इसकारण ज्ञेय भी सिद्ध नहीं होता और ज्ञेय को यथार्थ नहीं जानने पर ज्ञान भी यथार्थ सिद्ध नहीं होता और ज्ञान की यथार्थता के बिना धर्म भी नहीं हो सकता। विकारी पर्याय आत्मा की है ऐसा निर्णय करने पर जैसा है, वैसा ज्ञेय को ज्ञान द्वारा जानने पर द्रव्य-गुण शुद्ध है, उसका यथार्थ ज्ञान होता है; ज्ञेय को यथार्थ जानने पर ज्ञानतत्त्व सिद्ध होता है और ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति अर्थात् अनुभव होता है।

अब आचार्य भगवान अपने आत्मा की शुद्धता के निर्णय को धन्यवाद देते हैं। यह ज्ञानप्रधान निर्णय की बात है।

अब द्रव्य सामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं।

प्रवचनसार गाथा १२६

अब, इसप्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है; इसप्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देते हुए), द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं :

कर्ता करणं कर्म फलं च अप्यत्ति णिच्छिदो समणो ।

परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६ ॥

(हरिगीत)

जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करण कर्मरु कर्मफल ।

ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे ॥१२६॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [कर्ता करणं कर्म कर्मफलं च आत्मा] कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है [इति निश्चितः] ऐसा निश्चयवाला होता हुआ [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] परिणमित ही नहीं हो, [शुद्धम् आत्मानं] तो वह शुद्ध आत्मा को [लभते] उपलब्ध करता है ।

टीका : जो पुरुष इसप्रकार 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है, यह निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता; वही पुरुष, जिसका परद्रव्य के साथ संपर्क रुक गया है और

जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई हैं ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है; परन्तु अन्य कोई (पुरुष) ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता ।

इसी को स्पष्टतया समझाते हैं :

जब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत, मलिन) थी ऐसा मैं जवा-कुसुम की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग से (लालिमा से) जिसकी स्वपरिणति रंजित (रंगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणि की भाँति पर के द्वारा आरोपित विकारवाला होने से, संसारी था, तब भी (अज्ञातदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी (संबंधी) नहीं था । तब भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था); मैं अकेला ही करण था; क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा साधकतम (उत्कृष्ट साधन) था; मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा में प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था; और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला, 'दुःख' नामक कर्मफल था जो कि (फल) उपरक्त चैतन्यरूप (फल) परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता था ।

और अब, अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बंधनरूप उपाधि की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं जवा-कुसुम की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो, ऐसे स्फटिकमणि की भाँति जिसका पर के द्वारा आरोपित विकार रुक गया है ऐसा होने से एकान्ततः

१. ज्ञेयपने को प्राप्त = ज्ञेयभूत । (आत्मा ज्ञानरूप भी और ज्ञेयरूप भी है, इस ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार में यहाँ द्रव्य सामान्य का निरूपण किया जा रहा है; उसमें आत्मा ज्ञेयभूतरूप से समाविष्ट हुआ है ।)
२. कर्ता, करण इत्यादि आत्मा ही है ऐसा निश्चय होने पर दो बातें निश्चित हो जाती हैं । एक तो यह कि कर्ता, करण इत्यादि आत्मा है, पुद्गलादि नहीं अर्थात् आत्मा का परद्रव्य के साथ संबंध नहीं है; दूसरी - अभेद दृष्टि में कर्ता, करण इत्यादि भेद नहीं हैं, यह सब एक आत्मा ही है अर्थात् पर्यायें द्रव्य के भीतर लीन हो गई हैं ।

१. उपराग = किसी पदार्थ में, अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारी भाव; औपाधिक भाव; विकार; मलिनता ।
२. आरोपित = (नवीन अर्थात् औपाधिकरूप से) किये गये । (विकार स्वभावभूत नहीं थे, किन्तु उपाधि के निमित्त से औपाधिकरूप से (नवीन) हुए थे ।)
३. कर्ता, करण और कर्म के अर्थों के लिये १६वीं गाथा का भावार्थ देखना चाहिए ।

मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ; अभी भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है। अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र हूँ, (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य हूँ और मैं अकेला ही अनाकुलतालक्षणवाला, सुख नामक कर्मफल हूँ जो कि (फल) 'सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है।

इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार 'भानेवाला यह पुरुष परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख होने से, (अर्थात् एकत्व के भाने में तत्पर होने से), उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित् नहीं होती; और परमाणु की भाँति (जैसे एकत्वभाव से परिणमित परमाणु पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार), एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ 'संपृक्त नहीं होता; इसलिये परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है। और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को 'आत्मारूप से भाता हुआ वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण (खंडित) नहीं होता; और इसलिये पर्यायों के द्वारा संकीर्ण न होने से सुविशुद्ध होता है।

गाथा १२६ पर प्रवचन

१. सुविशुद्ध चैतन्य परिणमनस्वभाव आत्मा का कर्म है और वह कर्म अनाकुलता स्वरूप सुख को उत्पन्न करता है, इसलिये सुख वह कर्मफल है। सुख आत्मा की ही अवस्था होने से आत्मा ही कर्मफल है।
२. भाना = अनुभव करना; समझना; चिन्तन करना (किसी जीव का अज्ञानी या ज्ञानी का - पर के साथ संबंध नहीं है। बंधमार्ग में आत्मा स्वयं निज को निज से बाँधता था और निज को (अर्थात् अपने दुःखपर्यायरूप फल को) भोगता था। अब मोक्षमार्ग में आत्मा स्वयं निज को निज से मुक्त करता है और निज को (अर्थात् अपने सुखपर्यायरूप फल को) भोगता है। ऐसे एकत्व को सम्यग्दृष्टि जीव भाता है अनुभव करता है समझता है चिन्तन करता है। मिथ्यादृष्टि इससे विपरीतभावना वाला होता है।
३. संपृक्त = संपर्कवाला; संबंधवाला; संगवाला।
४. सम्यग्दृष्टि जीव भेदों को न भाकर अभेद आत्मा को ही भाता-अनुभव करता है।

यथार्थ ज्ञान करनेवाले को शुद्धात्मा का अनुभव अर्थात् धर्म होता है। आत्मा स्वयं अपने परिणाम का कर्ता है। आत्मा अपने परिणाम का साधन है, आत्मा स्वयं ही परिणामरूपी कर्म है, आत्मा स्वयं ही परिणाम का फल है।

इसप्रकार कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है, पुद्गल नहीं अर्थात् आत्मा का परद्रव्यों के साथ संबंध नहीं है। ऐसा जिस जीव ने यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्णय किया है, वह जीव वास्तव में विकाररूप परिणमित नहीं होता। परद्रव्य तथा कर्म के साथ सम्पर्क अटक गया है उसका अभिप्राय यह है कि निमित्त से अलग हुआ अर्थात् वह शुद्ध आत्मा में आये बिना नहीं रहेगा अर्थात् वह जीव शुद्ध आत्मा को अनुभवता है।

दूसरी बात यह है कि कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आदि भेद विकल्पवाली दशा के समय पर्याय में रहता है यह बात सही है, किन्तु उस पर्याय की दृष्टि दूर होने पर अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि होने पर अभेददृष्टि में ये भेद नाश को प्राप्त होते हैं। ये सभी आत्मा ही हैं। ऐसा निर्णय करने पर पर्यायें द्रव्य के अन्दर डूब जाती हैं और शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, किन्तु अन्य कोई भी पुरुष शुद्ध आत्मा के अनुभव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसे धर्म नहीं होता।

अयथार्थ ज्ञान करनेवाले को शुद्ध आत्मा का अनुभव अर्थात् धर्म नहीं होता।

- (१) कर्म के कारण विकार होता है तीव्र उदय हो तो तीव्र राग होता है और मंद उदय हो तो मंद विकार होता है, निमित्त दूर हो तो संसार टले। ऐसा माननेवाला स्थूल अज्ञानी जीव है।
- (२) तथा तभी निमित्त है, इसीलिए विकार होता है और निमित्त की उपस्थिति हो तो उपादान में कार्य होता है। ऐसा माननेवाला जीव भी अज्ञानी ही है।

इन दोनों ही प्रकार के जीव की दृष्टि निमित्त के ऊपर से नहीं हटेगी

और स्व तरफ नहीं झुकेगी।

(३) पुण्य से धर्म होगा, पुण्य-पाप ही मेरा स्वरूप है और अंश मात्र ही मैं हूँ ऐसे माननेवाले जीव की अंश ऊपर की दृष्टि नहीं हटेगी, वह भी स्व अंशी तरफ नहीं झुकेगा। इसीलिए ऐसे अज्ञानीको आत्मा का अनुभव नहीं होता, यह बात स्पष्ट रूप से समझाई गई है

मूल गाथा में तो जड़कर्म की बात ही नहीं ली। टीका में अमृतचंद्राचार्य देव संसारदशा में जड़कर्म निमित्त होते हैं, उसका ज्ञान कराते हैं। कर्म के ज्ञान से विकार नहीं होता, कर्म की एकत्वबुद्धि विकार कराती है। ज्ञान तो विकार दूर करता है; क्योंकि ज्ञान तो समाधान स्वरूप है।

अज्ञान दशा में भी मैं अकेला आत्मा स्वयं ही राग का कर्ता, कर्म आदि था; अन्य कोई परपदार्थ मेरे अज्ञान राग-द्वेष का कर्ता नहीं था। इसप्रकार प्रथम अज्ञान दशा का ज्ञान कराते हैं।

यहाँ धर्मी जीव पूर्व की अवस्था का ज्ञान करके संधि करते हैं और ज्ञान विशेष को दृढ़ करते हैं।

जब अनादि के द्रव्यकर्म की निकटता के निमित्त से होनेवाले मेरे विकारीभाव से मेरी स्व-परिणति मैली थी; क्योंकि विकार स्वभावभूत नहीं थे, किन्तु उपाधि के निमित्त से नये उत्पन्न हुए थे। वस्तुस्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं, किन्तु मेरी पर्यायबुद्धि के कारण राग-द्वेष होते थे, तब कर्म द्वारा विकार हुआ ऐसा आरोप किया जाता था, तब मैं संसारी था।

स्फटिकमणि में स्वयं तो लालरूप होने की योग्यता है, तब लाल फूल ने स्फटिक को लाल किया ऐसा कहा जाता है; जबकि लाल फूल ने स्फटिक को लाल नहीं किया है, अपितु स्फटिकमणि स्वयं लालरूप परिणमित हुआ है, तब लाल फूल की निकटता से उत्पन्न हुई ललाई द्वारा स्फटिकमणि लाल हुआ ऐसा कहने में आता है।

प्रश्न : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध और अनुकूल तथा अनुरूप का क्या अर्थ है?

उत्तर : द्रव्य में परिणाम की स्वयं की योग्यता नैमित्तिक है, उसे

अनुरूप कहा गया है और उस समय परपदार्थ की उपस्थिति और निमित्त को अनुकूल कहा गया है। यहाँ दृष्टांत में स्फटिकमणि की ललाई अनुरूप है और लाल फूल वह निमित्त - अनुकूल है।

घड़ेरूप पर्याय जिस समय हुई, वह अनुरूप है और हाथ का गोल-गोल करना, वह निमित्त घड़े के अनुकूल है। हाथ के कारण घड़ा नहीं हुआ (बना) है, किन्तु यहाँ दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं।

आत्मा के हुए विकारीभाव अनुरूप कहलाते हैं और कर्म को अनुकूल निमित्त कहा है। आत्मा स्वयं के कारण ज्ञान की हीनता करता है, तब ज्ञानावरणी कर्म निमित्त कहलाता है; इसमें ज्ञान की हीनता अनुरूप है और ज्ञानावरणी कर्म अनुकूल निमित्त है, किन्तु ज्ञान की हीनता में मोहनीय कर्म निमित्त नहीं कहलाता; क्योंकि मोहनीय कर्म ज्ञान की हीनता में अनुकूल होने की योग्यतावाला नहीं है। मोह के परिणाम के समय मोहनीय कर्म ही अनुकूल निमित्त है।

इसीतरह वीर्यातराय का उदय हो और यहाँ जीव के परिणाम में ज्ञान की हीनता हो ऐसा नहीं होता; क्योंकि ज्ञान की हीनता का परिणाम वीर्यातराय के उदय को अनुरूप नहीं, अपितु विपरीत पुरुषार्थ के परिणाम ही वीर्यातराय के उदय को (जीव जुड़े तो) अनुरूप है।

ज्ञानावरणी का उदय हो और वीर्य की हीनता हो जाये ऐसा नहीं होता, इसीतरह वीर्यातराय का उदय हो और ज्ञान की हीनता हो जाये, ऐसा भी नहीं होता।

ज्ञान की हीनता करें, तब ज्ञानावरणी कर्म का ही उदय होता है; इसीतरह अनुरूप और अनुकूल को स्पष्ट समझना। समयसार, गाथा ८६ में भी अनुरूप और अनुकूल की बात आई है।

यहाँ जड़-कर्म आत्मा को परिणाम कराते हैं यह बात है ही नहीं, इसीतरह आत्मा ने परिणाम किया, इसीलिए जड़-कर्म को आना पड़ा यह बात भी है ही नहीं, किन्तु नैमित्तिक ऐसे आत्मा की पर्याय की अनुरूप होने की स्वयं के कारण ऐसी योग्यता है और किस कर्म में

अनुकूल निमित्त होने की स्वयं के कारण कैसी योग्यता है, इसका ज्ञान कराके निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताया है।

जैसे स्फटिकमणि लाल फूल की उपस्थिति में स्वयं की योग्यता के कारण ललामीरूप परिणमित होता है, वैसे ही अनादि कर्म के संयोग से कर्म की तरफ के मेरे झुकाव के कारण मेरे स्वभाव में विकार न होने पर भी मेरी पर्यायबुद्धि के कारण मैं विकारवाला था और कर्म द्वारा आरोपित हुआ था, इसीलिए संसार था।

अज्ञान दशा में अथवा अधर्म दशा में भी कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है। धर्मी जीव विचार करता है कि अज्ञानदशा में भी मेरा कोई भी संबंधी नहीं था।

कर्ता : अज्ञानदशा में भी मेरे में होनेवाले मिथ्यात्व, राग और द्वेष का मैं अकेला ही कर्ता था। जीव और कर्म दोनों ने एक होकर काम नहीं किया है। निगोद से लेकर नववें ग्रैवेयक तक के शुभाशुभ सभी परिणामों का कर्ता आत्मा स्वयं ही है। काल ने अथवा कर्म ने शुभाशुभ भाव नहीं कराया था, अपितु मेरे कारण ही मैं शुभाशुभभाव का कर्ता था।

करण : राग-द्वेष के परिणाम का उत्कृष्ट साधन मैं ही था। शरीर, कुटुंब आदि साधन थे तो अशुभ-परिणाम हुआ अथवा देव-गुरु शास्त्र साधन थे तो शुभ परिणाम हुए यह बात असत्य है; क्योंकि वे तो परवस्तु हैं। मैं अकेला ही मेरे मलिन पर्यायस्वभाव से राग-द्वेष का उत्कृष्ट साधन था।

कर्म : शुभाशुभ-परिणामरूप मैं ही परिणमित होता था, संसारी पर्यायरूप मैं ही था, मलिनरूप परिणमित होना मेरी पर्यायस्वभाव के कारण था। मैं ही उस कार्यरूप प्राप्त होने योग्य था।

कर्मफल : अनाकुल सुख से विपरीत लक्षणवाला आकुलता के फलरूप में ही हुआ था; क्योंकि विकृत स्वभावरूप परिणमित होनेवाली मेरी पर्यायस्वभाव द्वारा मैं हर्ष-शोक आदिरूप हुआ था। निगोद से लेकर कौआ, कुत्ता, मनुष्य अथवा देव आदि के सभी भवों में पृथक्-

पृथक् क्षेत्र मिले, वह फल नहीं था और उन क्षेत्रों को मैं भोगता नहीं था, किन्तु मेरे हर्ष-शोक के फल को मैं भोगता था और मैं ही उसरूप हुआ था।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मुनि इस अज्ञानभाव का विचार किसप्रकार करते होंगे?

समाधान : ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान होने पर, स्व-पर प्रकाशक स्वभाव प्रगट होने पर पूर्व की अज्ञानदशा कैसी थी, उसका यथार्थज्ञान विशेष दृढ़ता के लिए करते हैं।

अब शुद्धदशा का वर्णन करते हैं :

अब अनादि के कर्मबंध की निकटता नहीं होने के कारण अर्थात् कर्म की तरफ का झुकाव छूट गया होने से मेरी स्वाभाविक शुद्धपरिणति प्रगट हुई है।

कर्म दूर हुए, इसीलिए शुद्धता प्रगट हुई है इसप्रकार शुद्धता पराधीन नहीं है; अपितु जब शुद्धता प्रगट होती है, तब कर्म आत्मा के एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप नहीं होते ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है।

जिसतरह जब स्फटिकमणि के पास लाल फूल नहीं होता, तब स्फटिकमणि अपने निर्मल स्वभाव को प्रकाशित कर रहा है; इसीतरह मेरे में शुद्धता प्रगट होने से पर के द्वारा आरोपित विकार मेरे में अटक (रुक) गया है ऐसा मैं सर्वथा मोक्ष का इच्छुक हूँ। विकार की तरफ के झुकाव का नाश हुआ अर्थात् कर्म द्वारा आरोपित विकार मेरे में अटक गया है, क्योंकि वह मेरा वास्तव में स्वभाव नहीं था।

अज्ञान दशा में मेरा कोई नहीं था और वर्तमान में ज्ञान दशा में भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है।

देखो, मुनि एकत्व भावना भाते हैं पूर्व संसार दशा में मैं अकेला था; स्त्री, कुटुम्ब, शरीर कोई भी मेरा संबंधी नहीं था और वहाँ मेरे राग-द्वेष आदि परिणाम का कर्ता, कर्म, साधन और फलरूप मैं ही था। जड़कर्म अथवा अन्य पदार्थ के कारण अज्ञान राग-द्वेष नहीं थे। यहाँ ज्ञान

दशा में भी मैं अकेला ही हूँ। देव-गुरु-शास्त्र भी मेरे नहीं हैं। यहाँ ज्ञान दशा में निर्मल पर्याय का कर्ता, निर्मल शुद्धतारूप कार्य, शुद्धता का साधन और शुद्धता के फल को भोगनेवाला मैं ही हूँ। इसप्रकार आत्मा की शुद्धता का अथवा धर्म की अवस्था का कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।

कर्ता : ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धस्वभावी वस्तु है ऐसा निर्णय करके मेरी शुद्धता को करनेवाला स्वतंत्ररूप से मैं ही हूँ। काललब्धि पके तो धर्म होता है यह बात ही असत्य है। किसका काल? पर काल का तो आत्मा में अभाव है। मेरी धर्म-पर्याय का कर्ता अन्य कोई पदार्थ नहीं है। मेरे में स्व-काल पका अर्थात् जाग्रत हुआ; इसीलिए मैं ही स्वाधीनरूप से शुद्धता का कर्ता हूँ।

करण : धर्मरूप कार्य प्रगट होने में साधन आत्मा, ज्ञानस्वरूपी मैं ही हूँ। मेरा स्वभाव ही ज्ञाता-द्रष्टा रहने का है और वही उत्कृष्ट साधन है। निरोगी शरीर, मनुष्य देह, देव-गुरु-शास्त्र का संयोग साधन है ही नहीं। मैं स्वयं ही धर्म का साधन हूँ।

इसतरह मुनि एकत्व भावना भाते हैं।

मेरी शुद्धदशा में धर्मरूपी कार्य का कर्ता मैं हूँ और धर्मदशा के लिए साधन भी मैं ही हूँ। यह बात पहले कही गई है।

कर्म : मुमुक्षुदशा में शुद्ध परिपूर्ण भावरूप कार्य होना; यही मेरा कार्य है, अन्य कोई मेरा कार्य नहीं; क्योंकि अकेले किसी की मदद बिना, कर्म के अभाव की भी मदद बिना शुभराग की मदद बिना मेरे सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होनेवाले स्वभाव के कारण मैं ही मेरे से प्राप्य हूँ। मेरे स्वभाव से शुद्धतारूपी कार्य मिले ऐसा हूँ, किन्तु अन्य कार्य मिले ऐसा मैं नहीं हूँ, मैं ही मेरे से प्राप्य हूँ। कार्य ही कर्म है और वही मैं हूँ।

कर्मफल : मैं मेरे ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धस्वभावरूप परिणमित हुआ, उस मेरे कार्य के फल में आकुलतारहित सुख उत्पन्न होता है; इसीलिए

सुख वह कर्मफल है। सुख मेरे आत्मा की ही अवस्था होने से मैं ही स्वयं कर्मफल हूँ। संयोग अथवा परपदार्थ का मिलना, वह सुख नहीं है, वह तो परवस्तु ही है; किन्तु अपने में शांति प्रगट होना, वह धर्म का फल है। शांति वही आत्मा है; इसीलिए कर्मफल आत्मा ही है।

अब, एकत्व की भावना भानेवाले जीव को सुविशुद्धता होती है, वह कहते हैं :

एकत्व की भावना का फल आत्मा की शुद्धता अथवा सुख है। इसतरह विकारी दशा में विकार का कर्ता आत्मा है, विकार होने में करण आत्मा है, विकारी होनेरूप कार्य आत्मा है और विकार का फल आकुलता भी आत्मा है; इसीतरह शुद्धता की दशा में शुद्धता का कर्ता आत्मा है, शुद्धता होने में साधन आत्मा है, शुद्धतारूप कार्य आत्मा है और शुद्धता का फल सुख वह भी आत्मा है। इसप्रकार धर्मी जीव विचार करता है। आत्मा संसार में अकेला है और मोक्षमार्ग में भी अकेला है।

ज्ञानी जीव को अथवा अज्ञानी जीव को परपदार्थ के साथ संबंध नहीं है।

कर्म के सद्भाव के कारण संसार नहीं है, इसीतरह कर्म के अभाव के कारण मोक्ष नहीं है। स्वयं अपने ज्ञाता-द्रष्टा वीतरागी स्वरूप को भूलकर आत्मा राग का कर्ता-कर्म और साधन होकर विकारी फल को भोगता था; अब मोक्षमार्ग में आत्मा स्वयं मुक्त होता है, स्वयं से मुक्त होता है, स्वयं को मुक्त करता है और निराकुल सुख को स्वयं भोगता है।

मिथ्यादृष्टि जीव इससे विपरीत ज्ञान करता है। देव-गुरु-शास्त्र हो तो धर्म होता है, काल अच्छा हो तो धर्म होता है, कर्म दूर हो तो धर्म होता है। ऐसी मान्यता होने से वह संयोग, कर्म और शुभराग की भावना भाता है, इसीलिए उसे धर्म नहीं होता; किन्तु यहाँ तो धर्मी जीव की बात है। साधक दशा में विकल्प उठता है, तब कहते हैं कि मैं समझा तो मेरे भाव से मैं देव-गुरु-शास्त्र से नहीं और परिभ्रमण किया तो भी मेरे भाव से (कर्म के उदय के कारण नहीं अथवा स्त्री-पुत्र के कारण नहीं।)

एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ संबंध नहीं है। जिसप्रकार वह परमाणु स्वयंसिद्ध पदार्थ है; वैसे ही आत्मा भी स्वयंसिद्ध सुखस्वरूप अकेला पदार्थ है। स्त्री, कुटुंब और देव-गुरु-शास्त्र के साथ मेरा संबंध नहीं है। इसप्रकार एकत्व भावना को जो जीव भाता है, अनुभवता है, समझता है, चिंतवन करता है; उस जीव को विकार बिलकुल नहीं होता।

एक परमाणु जबतक अकेला रहता है, तबतक स्कंधरूप अशुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं होता। इसीतरह एकत्व की भावना भानेवाले जीव को अपने सुख और आनंद के लिए परपदार्थ की तरफ देखना नहीं रहता, वह पर के संगवाला नहीं होता और परद्रव्य के साथ असंगपना होने पर अर्थात् संयोगीबुद्धि दूर होने पर स्वभाव बुद्धिउत्पन्न होती है अर्थात् शुद्धदशा होती है। इस शुद्धदशा का कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है

ऐसे भेदों को भी धर्मी जीव नहीं भाते, किन्तु इन चारों में सामान्य रहे अभेद आत्मा को ही वे भाते हैं और अनुभवते हैं; इसकारण वे पुरुष पर्यायों से खण्डित नहीं होते। जबतक विकल्प का आश्रय था, तबतक कर्ता, करण आदि चार भेद पड़ते थे और पर्याय से खण्डित होता था, किन्तु अभेद आत्मारूप हुआ अर्थात् विकल्प का उत्थान नहीं रहा अर्थात् रागवाली पर्याय उत्पन्न नहीं होती, किन्तु धर्म की निर्मल पर्याय प्रगट होती है और वह आत्मा के साथ अभेद होती है; इसीलिए पर्याय के भेदों से खण्डित नहीं होने के कारण आत्मा सुविशुद्ध होता है।

इसप्रकार एकत्व भावना का फल अनाकुल सुख बताया है।

अब, श्लोक द्वारा इसी आशय को व्यक्त करके शुद्धनय की महिमा करते हैं :

(वसंततिलका)

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः ।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥७॥

(मनहरण कवित्त)

जिसने बताई भिन्नता भिन्न द्रव्यनि से।

और आतमा एक ओर को हटा दिया ॥

जिसने विशेष किये लीन सामान्य में।

और मोहलक्ष्मी को लूट कर भगा दिया ॥

ऐसे शुद्धनय ने उत्कट विवेक से।

निज आतमा का स्वभाव समझा दिया ॥

और सम्पूर्ण इस जग से विरक्त कर।

इस आतमा को आतमा में ही लगा दिया ॥७॥

अर्थ : जिसने अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा आत्मा को एक ओर हटा लिया है। (अर्थात् परद्रव्यों से अलग दिखाया है) तथा जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में लीन किया है। (अर्थात् समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा हुआ दिखाया है) ऐसा जो यह, उद्धत मोह की लक्ष्मी को (ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला शुद्धनय है, उसने उत्कट विवेक के द्वारा तत्त्व को (आत्मस्वरूप को) विविक्त^१ किया है।

श्लोक ७ पर प्रवचन

शुद्धनय आत्मा को परपदार्थ जैसे कि स्त्री-कुटुम्ब तथा देव-गुरु-शास्त्र, शरीर और कर्म से अलग करता है अर्थात् उनसे पृथक् दर्शाता है। यहाँ क्षेत्र से अलग होने की बात नहीं; अपितु संयोगबुद्धि, निमित्ताधीन बुद्धि दूर होकर स्वभावबुद्धि हुई; उस भाव को, परद्रव्य से आत्मा को अलग किया। ऐसा कहा है तथा शुद्धनय पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता, अकेले अभेद आत्मा को ही स्वीकारता है।

आत्मा विकार को दूर करनेवाला है और शुद्धता को प्रगट करनेवाला है। ऐसा भेद शुद्धस्वभाव में नहीं है। कर्ता-करण आदि के भेद पर्याय में

१. विविक्त = शुद्ध, अकेला, अलग।

होते हैं, जो स्वभाव तरफ दृष्टि रखने पर नाश को प्राप्त होते हैं और पर्यायें द्रव्य के अन्दर डूब जाती हैं। इसीलिए शुद्धनय विशेषों को द्रव्य सामान्य में मग्न करता है अर्थात् पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि, रागबुद्धि का नाश करता है और स्वभावबुद्धि उत्पन्न करता है। ऐसा शुद्धनय वर्तमान पर्याय को अभेद शुद्धस्वभाव में लीन करता है, इसीलिए मिथ्यात्व-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते।

मूल कलश में लिखा है कि शुद्धनय उद्धत मोहलक्ष्मी को लूट लेनेवाला है। जैसे कोई मनुष्य सामने खड़ा हो और लूट लेता हो, वैसे ही मोह खड़ा है और उसे लूट लेता होगा ऐसा होगा न? चैतन्य अनंत गुणों का पिण्ड है, एक-एक गुण स्वतंत्र है, एक के कारण दूसरा गुण नहीं है, पर के अभावरूप स्वभाव है, विकार इसका स्वरूप नहीं ऐसे ज्ञान स्वभाव में एकाकार होने पर संसार की शोभा नाश को प्राप्त होती है, मिथ्यात्व-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते ऐसे भाव को बनाने के लिए शुद्धनय मोह की लक्ष्मी को लूटनेवाला है ऐसा कथन किया गया है।

शुद्धनय ने आत्मस्वरूप को राग-द्वेष तथा गुण-भेद से सम्यग्ज्ञान द्वारा पृथक् किया है। जितना-जितना शुद्धनय द्वारा अभेद आत्मा में एकाकार होता है, उतना-उतना आत्मा पर्याय में शुद्ध होता जाता है और सम्पूर्ण एकाकार होने पर परिपूर्ण वीतराग दशा और केवल दशा प्राप्त होती है।

इसप्रकार शुद्धनय की महिमा कही।

अब शुद्धनय के द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाले आत्मा की महिमा श्लोक द्वारा कहकर, द्रव्यसामान्य के वर्णन की पूर्णाहुति की जाती है :

(मंदाक्रान्ता)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽय
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥८॥

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।

करता-कर्म आदि भेदों को मिटा दिया ॥

इस भाँति आत्मा का तत्त्व उपलब्ध कर।

कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया।

ऐसा यह आत्मा चिन्मात्र निरमल।

सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया।

आपनी महिमामय परकाशमान।

रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया ॥८॥

अर्थ : इसप्रकार परपरिणति के उच्छेद से (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश से) तथा कर्ता, कर्म इत्यादि भेदों की भ्रान्ति के भी नाश से अन्त में जिसने शुद्ध आत्म-तत्त्व को उपलब्ध किया है ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज में लीन होता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।

श्लोक ८ पर प्रवचन

गाथा १२६ में कहा था कि अनादि से अनंतकाल तक मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में मैं और मैं ही हूँ; परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और पर भाव में मैं नहीं हूँ। चौथा काल हो तो आत्मा को केवलज्ञान हो, नरक का क्षेत्र दुःख कराता है आदि भाव अज्ञानी के हैं, जबकि वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है ऐसा निर्णय होने पर, पर के संग से जो भ्रान्ति राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, उसका सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा ने निश्चय किया है।

आत्मा शुद्धता का कर्ता है, करण है, कर्म है, कर्मफल है ऐसे चार भेद राग मिश्रित विचार में होने पर और उन भेदोंवाली अथवा रागवाली

दशा जितना मेरा स्वरूप है ऐसी मिथ्या भ्रान्ति का भी नाश करके शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति की है।

अनुकूल द्रव्य-क्षेत्र से आत्मा को लाभ होगा और प्रतिकूल द्रव्य-क्षेत्र से आत्मा का नुकसान होगा ऐसी मान्यता तो स्थूल भ्रान्ति है; किन्तु आत्मा की शुद्धता का राग रहित विचार करने पर कर्ता, करण आदि भेद पाड़कर उन भेदों से अभेद आत्मा में जायेंगे और जो ज्ञान भेद में अटकता था, उससे धीरे-धीरे स्वभाव के अंदर आये ऐसी मान्यता भी मिथ्या भ्रान्ति है। ऐसी भ्रान्ति का भी शुद्ध अभेद आत्मा के आश्रय से नाश किया है ऐसा यह आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव में भी लीन रहने से अपनी स्वाभाविक महिमा के प्रकाशमानरूप सर्वदा मुक्त ही रहेगा।

शुद्ध आत्मा सर्वथा मुक्त होने के पश्चात् भक्तों की भीड़ लगाने के लिए अथवा दुष्टों को दण्ड देने के लिए फिर से जन्म नहीं लेते; जो जन्म लेता है, वह मुक्त नहीं हुआ है।

इसप्रकार शुद्ध हुआ आत्मा सर्वथा मुक्त ही रहेगा ऐसा कहा है।



सत् द्रव्य का लक्षण कहा गया है, जो कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है। इसी सत् या सत्ता की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ध्यान रहे, इसी सत् सत्ता या अस्तित्व को द्रव्य का लक्षण माना गया है, कायत्व को नहीं। द्रव्य के लक्षण में कायत्व को सम्मिलित कर लेने पर कालद्रव्य द्रव्य ही नहीं रहता, क्योंकि उसमें कायत्व (बहुप्रदेशीयता) नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृष्ठ-७८